वर्ष ४४ अंक १२ दिसम्बर २००६ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

SRI MA TRUST
579, Sector 18-B, Chandigarh – 160 018 India
Phone: 91-172-272 44 60
email: SriMaTrust@yahoo.com

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

दिसम्बर २००६

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४४
अंक १२

वार्षिक ५०/- **एक प्रति ६/-**

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-

विदेशों में — वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन — २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
०७७१ - २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

प्रिंट आर्डर - १३,०००

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें —

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

सौर ऊर्जा

वैराग्य-शतकम्

तस्मादनन्तमजरं परमं विकासि
तद्ब्रह्म चिन्तय किमेभिरसद्विकल्पैः ।
यस्यानुषङ्गिण इमे भुवनाधिपत्य
भोगादयः कृपणलोकमता भवन्ति ।।६९।।

अन्वय – तस्मात् एभिः असत् विकल्पैः किं कृपण-लोक-मताः इमे भुवन-आधिपत्य-भोग-आदयः यस्य अनुषङ्गिणः भवन्ति तत् अनन्तम् अजरं परमं विकासि ब्रह्म चिन्तय ।

अर्थ – (चूँकि वैराग्य ही एकमात्र इच्छा करने योग्य है, अत: इन भोगों को प्राप्त करें या न करें आदि) मिथ्या संकल्प-विकल्पों से क्या लाभ? तुम तो उस अनन्त, अजर, परम ज्योतिरूप ब्रह्म का चिन्तन करो, जिसके प्रकाश में क्षुद्र लोगों द्वारा इच्छित जगत् के आधिपत्य आदि सुख दास के समान अनुसरण करते हैं।

पातालमाविशसि यासि नभो विलङ्घ्य
दिङ्मण्डलं भ्रमसि मानस चापलेन ।
भ्रान्त्यापि जातु विमलं कथमात्मनीनं
न ब्रह्म संस्मरसि निर्वृतिमेषि येन ।।७०।।

अन्वय – मानस, चापलेन पातालम् आविशसि, नभः विलङ्घ्य यासि, दिक्-मण्डलं भ्रमसि, (किन्तु) येन निर्वृतिम् एषि विमलम् आत्मनीनं ब्रह्म जातु भ्रान्त्या-अपि कथं न संस्मरसि?

अर्थ – रे मन ! अपनी चंचलता के द्वारा कभी तो तू पाताल में पहुँच जाता है, कभी आकाश के परे विचरण करता है और कभी दशों दिशाओं में दौड़-धूप करता रहता है; परन्तु जिसके चिन्तन से परम आनन्द की प्राप्ति होती है, अपने निज स्वरूप – उस विमल ब्रह्मतत्त्व की ओर तू कभी भूलकर भी नहीं जाता ।

– भर्तृहरि

सारदा-वन्दना

– १ –

(दरबारी-कान्हरा–एकताल)

सारदा मातु हे, वर यही दो हमें,
तव पदों में सदा, चित हमारा रहे ।

राह जैसा भी हो, पाँव विचलित न हो,
जो तुम्हारी कृपा, का सहारा रहे ।।

बाहु में शक्ति दो, प्राण में भक्ति दो,
हर तरफ बह रही, स्नेह धारा रहे ।।

तव तनय शिष्ट हो, या महा दुष्ट हो,
पर सदा तेरी आँखों, का तारा रहे ।।

– २ –

(दरबारी-कान्हरा–कहरवा)

माँ, अब कर दो उद्धार ।
आर्त-दीन मैं होकर आया,
आज तुम्हारे द्वार ।।

जीवन जीना मुझे न आता,
एक सहारा हो तुम माता,
हो जाऊँ निश्चिन्त सदा को,
तुम्हीं उठा लो भार ।। माँ !!

नाव चलाता भवसागर में,
कूल न पाता देख मगर मैं,
कृपा-दृष्टि जो मिल जाए तो,
होवे बेड़ा पार ।। माँ !!

वात्सल्य क्या है दिखलाओ,
स्नेह-प्रीति मुझ पर बरसाओ,
बन जाऊँ 'विदेह' मैं तेरे,
वक्षस्थल का हार ।। माँ !!

– *विदेह*

शिक्षा से समाज-निर्माण

स्वामी विवेकानन्द

अद्वैत आश्रम, मायावती द्वारा प्रकाशित State Society and Socialism नामक संकलन में प्रश्नोत्तर के रूप में स्वामीजी के विचारों का संयोजन किया गया है। प्रस्तुत है उसी पुस्तक के महत्वपूर्ण अंशों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

प्रश्न – कोई समाज किस प्रकार सबल बनता है?

उत्तर – मेरा आदर्श है – राष्ट्रीय मार्ग पर समाज की उन्नति, विस्तार और विकास।[४०]

भारत, मिस्र और रोम आदि देशों की प्राचीन सभ्यता और पश्चिमी देशों की वर्तमान सभ्यता – इनके बीच अन्तर उसी दिन से शुरू हुआ जबसे शिक्षा, सभ्यता आदि उच्च जातियों से धीरे-धीरे निम्नतर जातियों में फैलने लगी। मैं प्रत्यक्ष देखता हूँ कि जिस देश की जनता में विद्या-बुद्धि का जितना ही अधिक प्रचार है, वह देश उतना ही उन्नत है।

क्यों मौलिकता ने इस देश को बिल्कुल ही त्याग दिया है? क्यों हमारे सुदक्ष शिल्पकार यूरोपवालों के साथ बराबरी करने में असमर्थ होकर दिनो-दिन लुप्त होते जा रहे हैं? और वह कौन-सी शक्ति थी, जिसके बल पर जर्मन कारीगरों ने अँग्रेज कारीगरों के कई शताब्दियों से जमे हुये सुदृढ़ आसन को हिला दिया?

केवल शिक्षा ! शिक्षा ! शिक्षा ! यूरोप के अनेक नगरों में घूमते हुए वहाँ के गरीबों के भी अमन-चैन तथा शिक्षा को देखकर मुझे अपने गरीब देशवासियों की याद आती थी और मैं आँसू बहाता था। सोचा – यह अन्तर क्यों हुआ? उत्तर मिला – शिक्षा से। शिक्षा और आत्मविश्वास से उनका अन्तर्निहित ब्रह्मभाव जाग गया है, जबकि हमारा ब्रह्मभाव क्रमशः निद्रित – संकुचित होता जा रहा है।[४१]

पूर्व और पश्चिम में अन्तर मात्र यह है कि उनमें राष्ट्रीयता की भावना है और हम लोगों में नहीं, अर्थात् वहाँ की आम जनता में सभ्यता तथा शिक्षा का व्यापक प्रसार है। उच्च वर्ग के लोग भारत और अमेरिका में समान हैं, पर दोनों देशों के निम्न वर्ग के लोगों में जमीन-आसमान का फर्क है। भारत को जीतना अँग्रेजों के लिये इतना आसान क्यों सिद्ध हुआ? इसलिये कि वे एक राष्ट्र हैं और हम नहीं। जब हमारा कोई महापुरुष चल बसता है, तो एक और के लिये हमें सैकड़ों वर्ष बैठे रहना पड़ता है और वहाँ जिस अनुपात में उनकी मृत्यु होती है, उसी अनुपात में उनका सर्जन भी होता है।[४२]

सर्वसाधारण को शिक्षित बनाइये और उन्नत कीजिये। इसी प्रकार एक राष्ट्र का निर्माण किया जा सकता है। ... सारा दोष यहाँ है – वास्तविक राष्ट्र, जो झोपड़ियों में बसता है, अपना मनुष्यत्व भूल चुका है, अपना व्यक्तित्व खो चुका है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई – हरेक के पैरों-तले कुचले गये वे लोग यह समझने लगे हैं कि जिस किसी के पास पर्याप्त धन है, उसी के पैरों-तले कुचले जाने के लिये ही उनका जन्म हुआ है। उन्हें उनका खोया हुआ व्यक्तित्व वापस करना होगा। उन्हें शिक्षित करना होगा।

प्रत्येक व्यक्ति को अपना उद्धार स्वयं करना होगा। हमारा कर्तव्य केवल रासायनिक पदार्थों को एकत्र कर देना है, ईश्वरीय विधान से वे अपने आप ही रवे में परिणत हो जायेंगे। हमें केवल उनके मस्तिष्क में विचारों को भर देना है, बाकी सब वे अपने आप कर लेंगे।[४३]

प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक राष्ट्र को महान् बनाने के लिये तीन चीजें आवश्यक हैं –

१. सदाचार की शक्ति में विश्वास।

२. ईर्ष्या और सन्देह का परित्याग।

३. जो भले बनने या भले कर्म करने में प्रयत्नशील हों, उनकी सहायता करना।[४४]

विचार और कार्य की स्वाधीनता ही जीवन, उन्नति और कल्याण का एकमात्र साधन है। जहाँ यह स्वाधीनता नहीं है, वहाँ निश्चय ही व्यक्ति, जाति तथा राष्ट्र की अवनति होगी।

जीवन में मेरी एकमात्र अभिलाषा यही है कि मैं एक ऐसे चक्र का प्रवर्तन कर जाऊँ, जो उच्च तथा श्रेष्ठ विचारों को सबके द्वारों तक पहुँचा दे और फिर स्त्री-पुरुष अपने भाग्य का निर्णय स्वयं कर लें। आम जनता यह जाने कि हमारे पूर्वजों और अन्य देशों ने भी जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर क्या विचार किया है ! विशेषकर वे यह देखें कि अन्य लोग इस समय क्या कर रहे हैं और तब उन्हें अपना निर्णय करने दो। रासायनिक द्रव्य इकट्ठे कर दो और प्रकृति के नियमानुसार वे स्वयं ही कोई विशेष आकार धारण कर लेंगे।

याद रखो – राष्ट्र झोपड़ियों में बसा हुआ है; परन्तु हाय, कभी उनके लिये किसी ने कुछ किया नहीं। हमारे आधुनिक सुधारक विधवाओं के पुनर्विवाह में बड़े व्यस्त हैं। निश्चय ही मुझे हर सुधार से सहानुभूति है, परन्तु राष्ट्र की भावी उन्नति उसकी विधवाओं को मिले पतियों की संख्या पर नहीं, अपितु 'आम जनता की दशा' पर निर्भर है। क्या तुम जनता की उन्नति कर सकते हो? क्या उनकी स्वाभाविक आध्यात्मिक

वृत्ति को नष्ट किये बिना, उन्हें उनका खोया हुआ व्यक्तित्व वापस ला सकते हो? क्या समता, स्वाधीनता, कार्य-कौशल तथा पौरुष में तुम पाश्चात्य लोगों के भी गुरु बन सकते हो? इसके साथ ही क्या तुम स्वाभाविक आध्यात्मिक अन्त:प्रेरणा तथा धर्म-साधनाओं में एक कट्टर सनातनी हिन्दू हो सकते हो? यह काम हमें करना है और हम इसे निश्चित रूप से करेंगे। तुम सबने इसी के लिये जन्म लिया है। स्वयं पर विश्वास रखो। दृढ़ संकल्प महान् कार्यों का मूल है। सर्वदा आगे बढ़े चलो। मरते दम तक गरीबों और पददलितों के लिये सहानुभूति – यही हमारा मूलमंत्र है।[४५]

प्रश्न – आदर्श समाज कैसा होता है?

उत्तर – प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एवं अन्त: प्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के इस ब्रह्मभाव को प्रकट करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है।[४६]

यूनानी लोग राजनीतिक स्वाधीनता की खोज में थे। परन्तु हिन्दू ने सदैव आध्यात्मिक स्वाधीनता की खोज की है। दोनों ही एकांगी हैं। ... आत्मा और शरीर, दोनों की स्वाधीनता के लिये प्रयास होना चाहिये।[४७]

प्रश्न – सच्ची सभ्यता क्या है?

उत्तर – आप दार्शनिक लोग हैं – आप यह नहीं मानते कि रुपये की थैली पास रहने से ही व्यक्ति-व्यक्ति में कोई भेद आ जाता है। इन कल-कारखानों और जड़-विज्ञानों का मूल्य क्या है? उनका तो बस एक ही फल दीख पड़ता है – ये सर्वत्र ज्ञान का विस्तार करते हैं। आप (यूरोपीय लोग) अभाव अथवा दारिद्र्य की समस्या को हल नहीं कर सके हैं। बल्कि आपने तो गरीबी की मात्रा और भी बढ़ा दी है। यंत्रों की सहायता से 'दारिद्र्य-समस्या' का कभी समाधान नहीं हो सकता। उनके द्वारा जीवन-संग्राम और भी तीव्र हो जाता है, प्रतियोगिता और भी बढ़ जाती है। जड़-प्रकृति का क्या कोई स्वतंत्र मूल्य है? कोई व्यक्ति यदि तार के माध्यम से बिजली का प्रवाह भेज सकता है, तो आप तत्काल उसका स्मारक बनाने को उद्यत हो जाते हैं। क्यों? क्या प्रकृति स्वयं नित्य लाखों बार यह कार्य नहीं करती? क्या प्रकृति में सब कुछ पहले से ही विद्यमान नहीं है? आपको उसकी प्राप्ति हुई भी, तो उससे क्या लाभ? वह तो वहाँ पहले से ही विद्यमान है। उसका एकमात्र मूल्य यही है कि वह हमें भीतर से उन्नत बनाता है। यह जगत् एक व्यायामशाला के समान है और इसमें जीवात्माएँ अपने कर्म के द्वारा अपनी-अपनी उन्नति कर रही हैं और इसी उन्नति के फलस्वरूप हम देवस्वरूप या ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं। अत: किस वस्तु में ईश्वर की कितनी अभिव्यक्ति है, यह जानकर ही उस विषय का मूल्य या सार निर्धारित करना चाहिये। सभ्यता का अर्थ है – मनुष्य में इसी ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति।[४८]

प्रश्न – सभ्यता के विकास में एशिया, यूरोप और अमेरिका का क्या अवदान है?

उत्तर – एशिया ने सभ्यता की नींव डाली, यूरोप ने पुरुषों की उन्नति की और अमेरिका महिलाओं और जन-साधारण की उन्नति कर रहा है।[४९]

सन्दर्भ-सूची –

४०. विवेकानन्द साहित्य, (संस्करण १९८९) खण्ड ५, पृ. ९१; **४१.** वही, खण्ड ६, पृ. ३१०-११; **४२.** वही, खण्ड २, पृ. ३६५; **४३.** वही, खण्ड २, पृ. ३६५; **४४.** वही, खण्ड २, पृ. ३२४; **४५.** वही, खण्ड २, पृ. ३२१-२२; **४६.** वही, खण्ड १, पृ. १७३; **४७.** वही, खण्ड १, पृ. १८६; **४८.** वही, खण्ड १०, पृ. ३९४; **४९.** वही, खण्ड २, पृ. ३११

❖ **(क्रमश:)** ❖

मनुष्य स्वयं है अपना भाग्यविधाता

अपने स्वयं के दोष दूसरों के मत्थे मढ़ना मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता है। हम अपने दोष नहीं देखते। मनुष्य अपने दोषों और भूलों को पड़ोसियों पर लादना चाहता है; यह न जमा, तो उन सबको ईश्वर के मत्थे मढ़ना चाहता है; और इसमें भी यदि सफल न हुआ, तो फिर 'भाग्य' नामक एक भूत की कल्पना करता है और उसी को सबके लिए उत्तरदायी बनाकर निश्चिन्त हो जाता है। परन्तु प्रश्न उठता है कि यह भाग्य नामक वस्तु क्या है और कहाँ रहती है? हम जो कुछ बोते हैं, बस वही तो काटते हैं। हम स्वयं ही अपने भाग्य के निर्माता हैं।

– स्वामी विवेकानन्द

श्रीराम-वाल्मीकि-संवाद (१०/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा १९९६-९७ में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोहों के समय पण्डितजी ने उपरोक्त विषय पर जो प्रवचन दिये थे, यह उसी का अनुलेख है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

महर्षि वाल्मीकि और गोस्वामीजी के रामायणों में कुछ भेद है। महर्षि वाल्मीकि के रामायण में भरतजी ने जब श्रीराम से लौटने के लिये आग्रह किया, तो प्रभु ने मना कर दिया। बोले – "भरत, मैं लौट नहीं सकता। पिता की आज्ञा को मैं टाल नहीं सकता।" भरतजी यह कहकर आये थे कि हमें श्रीराम और सीताजी को लौटाना है और प्रभु ने भी छूट दे दी कि तुम जो कहोगे, वह मैं करूँगा, लेकिन प्रभु लौटे नहीं। परन्तु गोस्वामीजी एक नयी दृष्टि देते हैं। उनका कहना है कि लोगों ने भले ही नहीं देखा, पर भरतजी समझ गये कि पादुका के रूप में प्रभु और सीताजी मेरे साथ लौट रहे हैं।

वन में इस रूप में रह गये और भरत के साथ पादुका के रूप में लौट गये। यदि कोई प्रभु से पूछे कि यदि दोनों ही आपके रूप हैं, पादुका भी आप ही हैं, तो पादुका को वन में छोड़ दीजिये और इस रूप में भरतजी के साथ चले जाइये। तो प्रभु हँसकर यही कहेंगे – अरे भई, मुझमें मुझको देख ले तो बहुत कृपा है, मगर पादुका में मुझको देखना तो भरत के ही बस की बात है, अन्य लोगों के बस की बात नहीं है।

ईश्वर को ईश्वर के रूप में भी देखनेवाले कितने हैं! रावण, कुम्भकर्ण क्या देख पाते थे? परन्तु भरत के लिये जड़ और चेतन का भेद मिट चुका है – चेतन भी ब्रह्म, जड़ भी ब्रह्म, जो कुछ दिखाई देता है, वह सब कुछ एकमात्र ब्रह्म ही है। वह दृष्टि और वह साधना भरतजी में है।

इसलिये उस समय बृहस्पति जी ने देवताओं को एक बड़ा महान शास्त्रीय सत्य समझाया। उन्होंने कहा – "इस भ्रम को तुम भुला दो कि भगवान तुम्हारे लिये अवतार लेते हैं। तुम्हारा भी काम हो जाता है, इसलिये तुमने मान लिया कि भगवान तुम्हारे लिये ही अवतार लेकर आये हैं। तुम्हारा कार्य करने के लिये उनको आने की आवश्यकता नहीं है। वे संकल्प कर लेते कि रावण की मृत्यु हो जाये, तो रावण की मृत्यु हो जाती। रावण क्या, वे तो केवल संकल्प मात्र से सारे संसार का विनाश कर सकते हैं। और तब वे दृष्टान्त देकर समझाते हैं और उसमें भी उसी सिद्धान्त की ओर संकेत है। उन्होंने कहा – "याद करो, यह समस्या पहली बार तुम्हारे सामने नहीं आई है। सतयुग में भी तुम्हारे सामने यह समस्या आई थी। उस समय हिरण्यकश्यप के अत्याचार से सारा विश्व-ब्रह्माण्ड हिल उठा था और तुम लोग करोड़ों वर्षों तक दुःख सहते रहे, पर भगवान तुम्हारे लिये नहीं आये।" – तो किसके लिये आये? भगवान प्रह्लाद के लिये आये –

नरहरि किये प्रगट प्रहलादा ।। २/२६५/५

और इससे तुम्हारा भी काम बन गया, तो चाहो तो तुम अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बन लो। अरे भाई, तुम्हारे लिये आते तो पहले ही आ जाते, परन्तु वे तो प्रह्लाद पर संकट पड़ने के बाद ही आये। ईश्वर को सम से विषम बनाने की शक्ति जिस भक्त में है, वही उनके अवतार का हेतु बनता है। अत: यद्यपि प्रह्लाद की दृष्टि में भगवान सर्वत्र थे, हिरण्यकश्यप की तलवार में भी थे, हिरण्यकश्यप के हृदय में भी थे। और भगवान को जब प्रकट होना था, तो उसकी तलवार से ही निकल आते, हिरण्यकश्यप के हृदय को चीर कर ही प्रगट हो जाते। लेकिन प्रगट हुये कहाँ से? – खम्भे से।

किसी ने भगवान से पूछा – महाराज, जब तलवार में भी आप, हिरण्यकश्यप के हृदय में भी आप, तो आप खम्भे से ही क्यों प्रगट हुये? भगवान बोले – भक्त तो खम्भे से बँधा हुआ था। खम्भे में जो सचमुच मुझे देख रहा था, उसके हृदय की भावना से मैं प्रगट हो सकता था। सर्वव्यापी होते हुये भी, प्रकट करने के लिये मुझे जिस प्रेम की आवश्यकता है, और प्रेम कहाँ से मिला? किसके प्रेम से वे प्रकट हुए? गोस्वामीजी कहते हैं – देवताओं ने काफी काल तक कष्ट सहे, उसके बाद भक्त प्रह्लाद ने भगवान को प्रकट किया –

सहे सुरन्ह बहुकाल बिषादा ।
नरहरि किये प्रगट प्रहलादा ।। २/२६५/५

इसीलिये गोस्वामीजी ने कहा – प्रेम के दावेदार तो अनेक मिलते हैं, सब कहते हैं कि ईश्वर सर्वत्र हैं, पर प्रह्लाद ने केवल कहा नहीं, पत्थर से निकाल कर दिखा दिया –

प्रेम बदौं प्रहलादि को जिन
पाहन तें परमेश्वर काढ़े ।। (कविता., १२७)

तत्त्वत: इसका अर्थ यह है कि सर्वव्यापी ईश्वर अपने स्थान पर रहे, वह तो रहेगा ही, उसको निकालना या बैठाना हमारे-आपके वस में नहीं है। पर यदि उसे बाहर लाना है, तो एक से काम नहीं चलेगा। उसे तो एक से अनेक बनना होगा; अनीह से इच्छावाला बनना होगा; अरूप से रूपधारी

बनना होगा, अनाम से नामी होना होगा। घर में बच्चा जन्म लेता है, तो पहली चिन्ता होती है कि इसका नाम क्या रखें। नाम के बिना पुकारेंगे कैसे?

इसलिये वह ईश्वर, जो ब्रह्म के रूप में द्रष्टा और कूटस्थ है, भक्तों की भावना से वशीभूत होकर जब प्रगट होता है, तो सीताजी और लक्ष्मण ही मानो उसके प्रेरक हैं। लक्ष्मणजी भगवान से कहते हैं – प्रभो, आप क्रोध कीजिये। इसका अर्थ है कि यदि ब्रह्म इच्छारहित रहेगा, तो हमारे ऊपर कोई अत्याचार हो, तो उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। ब्रह्म यदि स्नेहरहित होगा, तो हमारी ओर आँख उठाकर क्यों देखेगा? अत: सीताजी भगवान को जीवों पर कृपा करने के लिये और लक्ष्मणजी क्रोध करके दण्ड देने के लिये प्रेरित करते हैं।

भगवान वाल्मीकिजी से बोले – महाराज, यदि मैं अकेले होता, तो आपसे न पूछता कि कहाँ रहूँ। पर आप देख ही रहे हैं कि इस समय मेरे साथ ये दो और हैं।

बड़ी मीठी बात है – भगवान चित्रकूट पहुँचकर रहने के लिये स्थान पसन्द कर लेते हैं। सोचते हैं कि यह स्थान रहने के लिये अच्छा है। परन्तु वे लक्ष्मण से कहते हैं – तुम स्थान का चुनाव और मेरे ठहरने के लिये व्यवस्था करो –

रघुबर कहेउ लखन भल घाटू।
करहु कतहुँ अब ठाहर ठाटू।। २/१३३/१

सीधी-सी बात है कि लक्ष्मणजी साथ में हैं, तो उन्हीं को यह काम दे दिया। पर भगवान का तात्पर्य था कि मुझे स्थान चुनने की स्वाधीनता नहीं है। जब मुझे सबके हृदय में रहना है, तो मैं कैसे कहूँगा कि यहाँ रहूँगा और यहाँ नहीं रहूँगा। पर तुम्हें तो स्थान का चयन करना है। लक्ष्मणजी तो सर्वत्र रहनेवाले हैं नहीं। वे किसी में जरा-सी कमी देखकर भ्रमित भी हो जाते हैं। यदि उन्हें लगता है कि भरतजी श्रीराम के विरोधी हैं, तो यह नहीं सोचते कि ये भरत मेरे भाई हैं।

मानो प्रभु कहते हैं कि ऐसा स्थान देखो, जहाँ मैं तो रहूँगा ही, पर वह स्थान तुम्हें भी प्रिय हो और जनकनन्दिनी सीताजी को भी प्रिय हो। साधना भगवान को बुलाने के लिये नहीं है, साधना है सीताजी और लक्ष्मणजी को रिझाने और बुलाने के लिये। इसको गोस्वामीजी बड़ा भावनात्मक और दार्शनिक रूप देते हैं। उसका काव्यात्मक वर्णन बड़ा अनोखा है – लक्ष्मणजी ने मन्दाकिनी नदी के किनारे को देखा और बोले – महाराज, यह स्थान धनुष के समान प्रतीत होता है।

नदी जहाँ टेढ़ी होती है, वहाँ उसका किनारा भी टेढ़ा हो जाता है। लक्ष्मणजी को लगा कि यह ठीक धनुष के समान है। इसके अर्थ पर विचार कीजिये। ब्रह्म धनुर्धारी नहीं है, पर जिस ईश्वर ने लोक-कल्याण के लिये अवतार लिया है, वह तो धनुष धारण करता है। और वह जहाँ रहेगा, वह स्थान भी धनुष के समान है। लक्ष्मणजी बोले – लगता है कि यह नदी का किनारा नहीं, धनुष है। प्रभु मुस्कराये।

अब धनुष है, तो क्या बिना बाण का धनुष है? और धनुष-बाण है, तो इसका उपयोग क्या है? लक्ष्मणजी कविता करते हैं – प्रभो, नदी का कगार या किनारा धनुष है, नदी प्रत्यंचा है और चित्रकूट वह शिकारी है, जो निरन्तर पापों का वध कर रहा है, विनाश कर रहा है और आप भी पाप का वध करने आये हैं, अत: यहीं रहना अच्छा होगा –

लखन दीख पय उतर करारा।
चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा।।
नदी पनच सर सम दम दाना।
सकल कलुष कलि साउज नाना।।
चित्रकूट जनु अचल अहेरी।
चुकइ न घात मार मुठभेरी।। २/१३३/२-४

लक्ष्मणजी के पास दृष्टि है। वे कहते हैं कि पापों तथा दुर्गुणों का नाश होना चाहिये और प्रभु से वहाँ निवास करने को कहते हैं। स्वार्थी लोग अपने काम में बड़े निपुण होते हैं। जब प्रभु को स्थान पसन्द आ गया, तो सबसे पहले ये ही लोग आ गये। ये देवतागण अपने वेश में नहीं, कोल-किरातों के वेश में आकर बोले – महाराज, आप लोग यहाँ रहनेवाले हैं, तो आपको कुटिया भी तो चाहिये। हम बना देते हैं। उन्होंने लक्ष्मणजी के लिये एक छोटी कुटिया और प्रभु राम और सीताजी के लिये एक बड़ी कुटिया बनाई –

रमेउ राम मनु देवन्ह जाना।
चले सहित सुर थपति प्रधाना।।
कोल किरात बेष सब आये।
रचे परन तृन सदन सुहाये।।
बरनि न जाइ मंजु दुइ साला।
एक ललित लघु एक बिसाला।। २/१३३/६-८

भगवान जब उस कुटिया में आये, तो देवता सब अपने-अपने वास्तविक वेष में आ गये। प्रभु राज्य छोड़कर कुटिया में आये तो भी मानो स्वार्थी पीछा नहीं छोड़ रहे हैं। देवता बोले – महाराज, हम बड़े संकट में हैं, बड़े कष्ट में हैं, हमारे काम का ध्यान रखियेगा। स्वार्थी सेवा करेगा, तो यह कहना नहीं भूलेगा कि थोड़ा ध्यान रखियेगा, मेरा यह काम है –

करि बिनती दुख दुसह सुनाये। २/१३४/४

तो भगवान राम और लक्ष्मणजी में अन्तर है। भगवान सर्वत्र रह सकते हैं। चाहे कोई रागी हो, या विरागी हो, ब्रह्म सर्वत्र है, पर वैराग्य सबके हृदय में नहीं होता। और इसी प्रकार ब्रह्म भले ही सर्वत्र निवास करे, पर साक्षात् भक्ति रूपी सीता सर्वत्र निवास नहीं करती। इसके बाद भगवान को लगा कि इस कुटिया में उतना आनन्द नहीं है, उतना अच्छा नहीं लग रहा है, तो बोले – लक्ष्मण, न हो तो अब तुम्हीं कुटिया

बना लो। यह रामायण की अपनी शैली है।

बात यह है कि स्वार्थी की वस्तु को देखने पर बार-बार उसी की याद आती है कि यह काम करने को दे गया है। यदि किसी व्यक्ति को कोई वस्तु भेंट की जाती है, तो उसे देखकर उसको याद रहता है कि अमुक व्यक्ति ने मुझे यह दिया। तो वे स्वार्थी की बात भी रखते हैं, लेकिन प्रभु ने लक्ष्मणजी से कुटिया के लिये दूसरा स्थान देखने को कहा।

तब लक्ष्मणजी ने एक दूसरा स्थान – स्फटिक शिला को चुना। वहाँ जब पक्षी कलरव करते हैं, तो ऐसा लगता है कि वेदों का उच्चारण हो रहा है –

फटिक सिला मृदु बिसाल संकुल सुरतरु तमाल
ललित लता जाल हरति छबि बितान की।
मंदाकिनि तटिनि तीर, मंजुल मृग बिहग भीर।
धीर मुनि गिरा गभीर साम गान की।।
(गीतावली, २/४४/१)

इस बार निर्माण में किसी ने हाथ नहीं लगाया। तो फिर वहाँ कुटिया किसने बनाई? विरागी लक्ष्मणजी ने –

बिरचित तहँ परन साल, अति विचित्र लषन लाल
निवसत जहँ नित कृपालु राम जानकी।। २/४४/३

स्मरण कीजिये, विरागी ने कुटिया बनाई। विरागी नीरस नहीं होता। वह संसार के विषयों से तो नीरस होता है, पर वैराग्य का एक अपना रस होता है। संसारी लोग संसार के रसों का आनन्द लेते हैं, पर पद्म-पुराण में भगवान वेदव्यास कहते हैं – अन्य रसों का आनन्द लेकर तो देख चुके, पहले अच्छे लगते हैं, पर बाद में वे कड़ुवे भी लगते हैं, कष्टदायी भी लगते हैं। अब एक अन्य रस का पान करो। अब जरा वैराग्य-रस का आनन्द लो –

वैराग्य-राग-रसिको भवि भक्ति निष्ठा।

वैराग्य के अन्तराल में सीताजी के साथ श्रीराम निवास करते हैं। बड़ी अनोखी बात है। वैराग्य की कुटिया में अनुराग की लीला चल रही है। जहाँ भक्ति होगी, वहाँ अनुराग तो होगा ही। भगवान राम फूल तोड़कर लाते हैं, सजाते हैं और इसी रस को न जानने के कारण, विषयी इन्द्र का पुत्र जयन्त वहाँ अपनी वैषयिक दृष्टि लेकर आता है, तो स्वयं में वैराग्य के अभाव से उसे उस दृश्य में विलासिता दिखती है। उसके पास दृष्टि का अभाव था और इसीलिये उसने भक्ति पर प्रहार किया। उसके प्रहार करने के बाद प्रभु ने उसे अपनी महिमा का दर्शन कराया। बाद में किशोरीजी के अनुरोध पर उसे क्षमा भी कर दिया। पर भगवान बोले – तुम्हारी एक आँख फोड़ देना ही ठीक है –

एक नयन करि तजा भवानी। ३/२/१४

एक आँख फोड़ने का अभिप्राय क्या है? तुमने नारद से सुन लिया कि भगवान ने अवतार लिया है, परन्तु वैराग्य की दृष्टि का अभाव होने से तुमने मुझमें भी केवल भौतिक शृंगार का दर्शन करके जनकनन्दिनी के चरणों में प्रहार करने की चेष्टा की। इसका सीधा-सा तात्पर्य यह है कि हमारे हृदय में भक्ति और वैराग्य का प्राकट्य होना चाहिये।

इन चौदह स्थानों का वर्णन करने का अभिप्राय यह है कि हम कौन-कौन-सी साधना करें जिससे हमारे हृदय में वैराग्य आये और उसके साथ-साथ भक्ति का अनुराग भी आवे –

जेहि लागि बिरागी अति अनुरागी (छंद) १/१८६

ये साधनायें भगवान को पाने की नहीं, भक्ति और वैराग्य की है। आप कथा श्रवण करते हैं, तो भी उसका उद्देश्य जो होना चाहिये, उतनी गहराई से सुनने-पढ़ने की वृत्ति आज मिटती जा रही है, पर गोस्वामीजी ने तो विभाग कर दिया। उन्होंने कहा – रामकथा मानसरोवर है और माना जाता है कि सरयू नदी मानसरोवर से निकली है। मानसरोवर और सरयू दोनों में जल है, परन्तु मानसरोवर में पहुँचना बड़ा कठिन है।

पूछा गया – मानसरोवर में कोई कौवे हैं या नहीं, बगुले हैं या नहीं, ऐसे ही अन्य जन्तु हैं या नहीं? बोले – वहाँ तो ऐसी वस्तुयें – ऐसे विषयों की कथा तो है नहीं, जो मेढ़कों, कौवों तथा बगुलों को पसन्द आवे। बेचारे कामी लोगों को लगता है कि कथा में क्या रस है, ये लोग व्यर्थ की ही कथा कहते हैं, सुनकर कुछ मजा नहीं आया, रस नहीं आया। ऐसे लोगों के लिये मानसरोवर में पहुँचना अति कठिन है।

संबुक भेक सेवार समाना।
इहाँ न विषय कथा रस नाना।।
तेहि कारन आवत हियँ हारे।
कामी काक बलाक बिचारे।।
आवत एहिं सर अति कठिनाई।
राम कृपा बिनु आइ न जाई। १/३८/४-६

परन्तु यदि कुछ कामी कौए-बगुले भगवान की कृपा से मानसरोवर तक पहुँच भी गये, तो एक नयी समस्या आवेगी। कथा में आकर कई लोगों को नींद आने लगती है। अब हँसी-मजाक की बात हो, तो नींद नहीं आयेगी, क्योंकि वहाँ हँसने का आनन्द आता रहता है। लेकिन कभी-कभी लगता है कि कुछ लोग सो रहे हैं और श्रोता को सोता देखकर कई वक्ता निराश हो जाते हैं। वे सोचने लगते हैं – चलो, कुछ चुटकुला सुनाकर जगा दे।

गोस्वामीजी ने कहा कि श्रोता को सोते देखकर यह भ्रम न पाल लेना कि यह कथा की कमी है। – तब किस बात की कमी है? गोस्वामीजी बोले – जैसे कोई नहाने के लिये मानसरोवर पहुँच जाये, पर उस ठण्डक में लगे कि आ तो गये, लेकिन जब जल को उँगली से भी छूने में घबराहट हो रही है, तो पूरा कपड़ा उतारें और डुबकी लगायें, तो क्या हाल होगा? उसने कहा – बस ठीक है, दूर से प्रणाम कर

लेते हैं। लौटकर सबसे कह देंगे – मानसरोवर-यात्रा करके आ गये। गोस्वामीजी ने कहा – ऐसे कई लोग मानसरोवर पहुँच जाते हैं, जिन्हें वहाँ पहुँचकर नींद की जूड़ी (जड़ैया बुखार) आ जाती है। अर्थात् उन्हें जड़ता की भयानक ठण्ड लगने लगती है।

जौं करि कष्ट जा पुनि कोई ।
जातहिं नीद जुड़ाई होई ।। १/३९/१

न जाने क्या बोले चले जा रहे हैं, समझ में नहीं आता।

हमारे एक परिचित हरिचरणजी थे, वे व्रजवासी थे, बड़े विनोदी भी थे, व्यंग्य भी करते थे। कभी-कभी वे बड़ी मीठी बात करते थे। बम्बई में कथा चल रही थी। पहले वे मेरे साथ बोला करते थे। श्रोता तब तक पूरे नहीं आये होते, बहुत थोड़े आये होते थे, पहले वे बोलते। बाद में धीरे-धीरे श्रोता बड़ी संख्या में आ जाते। उन्होंने कहा – देखिये, यह जो इतनी बड़ी भीड़ दिखाई दे रही है, इससे यह न समझ लीजियेगा कि ये रामकथा के प्रेमी हैं। मैंने पूछा – क्यों? बोले – मैं क्या रामकथा की जगह कोई जहर पिलाता हूँ। तब ये सब क्यों नहीं आते? लगता है ये लोग कथा-वथा नहीं आपकी वकालत सुनने आते हैं। रामकथा के सन्दर्भ में मानो उनके विनोद का अर्थ यह था कि बुद्धिमान जब तक बुद्धि में स्थित न हो, तो उसे जड़ता का जाड़ा लगना स्वाभाविक है और वह सोचेगा – चलो, कथा में तो हम पहुँच ही गये, नहीं सुन पाये तो क्या हुआ?

जड़ता जाड़ विषम उर लागा ।
गयेहुँ न मज्जन पाव अभागा ।। १/३९/२

बेचारा मानसरोवर पहुँचकर भी बिना नहाये लौट आया। मगर आगे बड़ी मधुर बात कही गई है। मानसरोवर पहुँचने में कठिनाई अवश्य है, परन्तु उसी मानसरोवर से जब नदी निकलेगी, तो उसके किनारे हर तरह के पक्षी आयेंगे – ऐसा नहीं कि केवल हंस ही आयें, बगुले न आयें। आवश्यक नहीं कि वहाँ केवल योग्य व्यक्ति ही पहुँचे।

गोस्वामीजी का अभिप्राय यह है कि श्रोता का वह वर्ग जो मानसरोवर के दिव्य जल में प्रविष्ट होता है, उस जल को पीता है, उसमें स्नान करता है, सगुण ब्रह्म की लीला का आनन्द लेता है, अगुण ब्रह्म की महिमा की गहराइयों में डूबता है। परन्तु जिनके लिये ऐसा सम्भव नहीं, उनके लिये नदी में नहाने की सुविधा है। नदी में आप किसी भी मौसम में कहीं भी आसानी से पहुँच सकते हैं।

गोस्वामीजी ने मानसरोवर से जो कविता-सरिता निकाली है, उसके तट पर नाना प्रकार के पक्षी आते हैं। साथ ही उन्होंने एक बात और कही – विषयी व्यक्ति मानसरोवर तक तो नहीं पहुँचेगा, परन्तु वह कविता की सरयू में पहुँच जाता है। कैसे? बोले – कान को अच्छा लगने के कारण –

विषइन्ह कहँ पुनि हरि गुन ग्रामा ।
श्रवन सुखद अरू मन अभिरामा ।। १/५३/४

यदि कोई मधुर कण्ठ से गाये, तो बड़ा अच्छा लगता है। उस गाने को सुनकर व्यक्ति झूमने लगता है। कोई हँसी की मनोरंजक बात कह दी जाये, तो वह खिलखिला कर हँस पड़ता है। उसकी दिन भर की थकान दूर हो जाती है।

पर यदि नदी में स्नान करने से पहले व्यक्ति की यह वृत्ति हो कि नहीं, पहले नदी के मूल उद्गम तक पहुँचेंगे। तब कथा का उद्देश्य होगा यह देखना कि इसके श्रवण से हमारे जीवन में कितने वैराग्य का उदय हुआ, हमारे हृदय में कितने भक्ति-रस का संचार हुआ।

इस मूल उद्देश्य की दृष्टि से यह जो तीसरा स्थान महर्षि ने बताया, उसमें मानो एक संकेत है। और वह संकेत यह है कि जब हम अन्तर्यामी ईश्वर को पाना चाहते हैं, तो उसके लिये हमें प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है। बल्कि उसके लिये चेष्टा करनी होगी कि हमारे अन्तःकरण में ज्ञान का उदय कैसे हो, वैराग्य का उदय कैसे हो। ज्ञान तो ज्यों-का-त्यों है, पर भक्ति का उदय कैसे हो?

इस तीसरे स्थान में क्या संकेत है? पहले में कथा सुनने का उद्देश्य है। कथा सुनिये और आपके जीवन में इसका यह फल होगा कि भक्ति और वैराग्य का संचार होगा। चातक-वृत्ति रूप दूसरे स्थान का अभिप्राय यह है कि भगवान राम के सौन्दर्य के लिये यदि चातक बन गये, तो इसका परिणाम यह होगा कि संसार का सौन्दर्य देखकर उसके प्रति मन में जो राग उत्पन्न होता है, उसकी जगह भगवान के सौन्दर्य से राग हो जायेगा। और भगवान के सौन्दर्य से राग हो जाने पर अपने आप ही संसार के सौन्दर्य से वैराग्य हो जायेगा। जिस भौंरे ने कमल का दिव्य रस पी लिया हो, वह क्या किसी गन्दे स्थान का रस पीना चाहेगा? इसी प्रकार भगवद्-रस पान करनेवाले के हृदय में सहज भाव से ही वैराग्य आ जाता है – भगवान से राग है और संसार की वस्तुओं से वैराग्य। यह भक्ति और वैराग्य का सामंजस्य है।

फिर तीसरे स्थान में एक नया सूत्र दिया गया है। महर्षि वाल्मीकि कहते हैं – प्रभो, आपका यश मानसरोवर है और जिनकी जिह्वा उस यश के मानसरोवर में हंसिनी के समान है, उनके हृदय में आप निवास करें।

एक बार फिर वही कवि-सत्य वाली बात याद दिला दें कि उस चातक और हंस की खोज में मत जाइयेगा। कई लोग कहते हैं कि वह हंस कहाँ है? कई लोग मानसरोवर की यात्रा करके जब आते हैं, तो लोग उनसे पूछते हैं – क्या आपने वहाँ हंस देखा था। जो प्रकृति के पर्यवेक्षक हैं या जो पक्षिशास्त्र के विशेषज्ञ हैं, वे उस पक्षी का नाम हंस बताते

हैं। एक पक्षी है, जिसे हंस कहते हैं। इतने तक तो ठीक है। पक्षिशास्त्र की दृष्टि से वह हंस है। पर उस हंस में जिन दो गुणों की चर्चा की गई, वह आज दिखनेवाले हंस नाम के पक्षी में ढूँढ़ियेगा, तो बड़ी निराशा होगी।

कौन-से गुण? – एक तो मानते हैं कि मानसरोवर में रहनेवाला हंस केवल मोती चुगता है। मोती छोड़कर और कुछ खाता ही नहीं। और उस हंस की दूसरी विशेषता यह है कि यदि दूध और पानी को मिलाकर रख दिया जाय, तो वह दोनों को अलग-अलग कर लेता है। अब वर्तमान में जिस पक्षी को हंस बताया जाता है, उसके आगे दूध-पानी मिलाकर रख दीजिये, तो उसमें आपको यह गुण नहीं दिखाई देगा।

एक सज्जन बोले – हंस मिल जाता, तो कितना अच्छा होता। मैंने विनोद में कहा – अच्छा क्या होता, दूध-पानी को अलग करके दूध पी जाता और पानी तुम्हारे लिये छोड़ देता। तुम बड़े घाटे में रह जाते, क्योंकि वह केवल दूध को पानी से अलग नहीं करता, बल्कि उसे ग्रहण कर लेता है –

संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार।

दूध और पानी को अलग कर देना और मोती चुगना –ये उस मानसरोवर के हंस के गुण हैं। और वाल्मीकिजी कहते हैं – प्रभो, आपका जो यश है, वह तो मानसरोवर है। अब नदी के जल में तो कभी-कभी गन्दगी आ ही जाती है, पर मानसरोवर कभी गन्दा नहीं होता। तो आपका यश मानो मानसरोवर है और जिनकी जिह्वा मुक्ता को चुगनेवाली हंसिनी है, उनके हृदय में आप निवास करें।

कविराज्य में मोती चुगनेवाले हंस तथा हंसिनी होते हैं। और वे कौन-सा मोती चुगते हैं? बोले – आपके गुणों रूपी मोतियों को चुनते रहते हैं –

जसु तुम्हार मानस बिमल
हंसिनि जीहा जासु।।
मुकताहल गुन-गन चुनइ
राम बसहु हियँ तासु।। २/१२८

भगवान का गुण गानेवाले तो दुनिया में लाखों व्यक्ति हैं। कितने जोर-जोर से गाते हैं। परन्तु ये जो गानेवाले हैं, क्या इनकी जिह्वा हंसिनी है? क्या हम लोगों की जिह्वा हंसिनी है? हंस की परीक्षा यही है कि वह मोती छोड़कर कुछ नहीं चुगेगा। एक कवि ने लिखा है – किसी ने बगुले को देखकर कहा कि हंस भी सफेद है और बगुला भी सफेद है, हंस बड़ा शान्त और बगुला भी बड़ा शान्त प्रतीत होता है। परन्तु दोनों में भेद क्या है, तो कवि ने यही कहा – बाहर से दोनों का आचरण समान दिखने पर भी जब दूध और पानी मिलाकर उनके सामने रखा जायेगा, तब बगुले की कलई खुल जायेगी –

श्वेत स्वरूप स्वभाव को शान्त
शनैः शनैः सो सुचि पाँव उठै है।
ध्यानी दिखै है दबाइ के नैन
सरोवर के तट बासहु पैहै।
नीरक्षीर के आगे धरे
बालाक तेरी कलई खुलि जैहै।

तो जिह्वा के हंसिनी होने का अर्थ यह है कि भगवद्-गुण का गायन करनेवाले व्यक्ति में गुण-ग्रहण और दोष-परित्याग की वृत्ति आ जाती है। और वह भगवान के यश-सरोवर से उनके गुणों रूपी मोती चुगना – अपनी जिह्वा से भगवान का गुणानुवाद करना छोड़कर, संसार के लोगों का गुणानुवाद नहीं करता और जिस व्यक्ति के जीवन में इस तरह के गुण और दोष को अलग करने की वृत्ति है – हे प्रभु, आप उसके हृदय में निवास कीजिये।

आगे इसी की विशेष व्याख्या करने की चेष्टा की जायेगी।

❖ (क्रमशः) ❖

श्रीरामकृष्ण उवाच –

परमात्मा के लिये कर्म करो

जैसे 'एक' की संख्या के बाद शून्य लगाते हुए चाहे जितनी बड़ी संख्या बनाई जा सकती है; पर यदि उस 'एक' को मिटा दिया जाए, तो शून्यों का कोई मूल्य नहीं रह जाता; वैसे ही जब तक जीव उस 'एक'-स्वरूप परमात्मा के साथ नहीं जुड़ता, तब तक उसकी कोई कीमत नहीं होती; क्योंकि जगत् में सभी वस्तुओं को ईश्वर से सम्बन्धित होने पर ही मूल्य प्राप्त होता है। जीव जब तक इस जगत् के पीछे विद्यमान उन मूल्य प्रदाता परमात्मा के साथ जुड़कर उन्हीं के लिए कार्य करता है, तब तक उसे अधिकाधिक कल्याण की प्राप्ति होती रहती है, परन्तु इसके विपरीत जब वह परमात्मा की उपेक्षा करते हुए अपने स्वयं के अहंकार तथा गौरव हेतु बड़े-बड़े कार्य सम्पन्न करने में लग जाता है, तब उसे कोई लाभ नहीं मिलता।

– श्रीरामकृष्ण

कर्तव्य-बोध

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर अनेक विचारोत्तेजनक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

'बोध' एक ऐसा शब्द है, जो मनुष्य के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा है। पशु में बोध नहीं होता। आप कह सकते हैं कि पशु को ज्ञान होते देखा गया है। यह सच है, पर ज्ञान और बोध में अन्तर है। एक पश्चिमी विद्वान् ने पशु और मनुष्य का अन्तर बताते हुए कहा है – A man knows and an animal knows, but an animal does not know that he knows, while a man knows that he knows. अर्थात् जैसे मनुष्य जानता है, वैसे ही पशु भी जानता है, परन्तु पशु यह नहीं जानता कि वह जानता है, जबकि मनुष्य जानता है कि वह जानता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को अपने ज्ञान का बोध होता है, जबकि पशु को ऐसा नहीं होता। मनुष्य की यही क्षमता उसे पशु से भिन्न करती है। एक संस्कृत सुभाषित में मनुष्य और पशु के इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा गया है –

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मैव तेषामधिको विशेषः तेनैव हीनाः पशुभिः समानाः।।

– "भोजन, नींद, भय और प्रजनन की प्रवृत्तियाँ - पशुओं तथा मनुष्यों में समान रूप से पायी जाती हैं। एक धर्म का तत्त्व मनुष्यों में अधिक होता है, वह यदि मनुष्य में न हो, तो वह पशु के समान है।"

इस सुभाषित में धर्म को मनुष्य और पशु में अन्तर करनेवाला तत्त्व बतलाया। इस धर्म को कर्तव्य-बोध भी कहते हैं। तात्पर्य यह कि धर्म वह है, जो मनुष्य में कर्तव्य-बोध भरता है। पशु में कोई कर्तव्य-बोध नहीं होता, वह अपनी सहज प्रेरणा से परिचालित होता है। एक स्वामिभक्त कुत्ता जब अपने स्वामी की रक्षा करने के लिए चोर पर झपट पड़ता है, तो वह कर्तव्य-बोध से प्रेरित हो ऐसा नहीं करता, अपितु अपनी सहज प्रेरणा से परिचालित होकर ऐसा करता है, जिसे हम अंग्रेजी में instinct कहते हैं। कर्तव्य-बोध की क्षमता मनुष्य में ही होती है। इसीलिए जैसे वह पुरस्कार पाने का अधिकारी होता है, वैसे ही दण्ड पाने का भी; जबकि कभी किसी ने अपने मालिक को बचानेवाले कुत्ते को पुरस्कार देकर सम्मानित नहीं किया।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि हमें अपने कर्तव्य का पालन क्यों करना चाहिए। इसलिए करना चाहिए कि यही मनुष्य की मनुष्यता को उजागर करता है। वैसे तो पशुभाव केवल पशु का गुण नहीं, वह मनुष्य में भी होता है, पर मानव-जीवन की सार्थकता इसमें है कि वह अपने भीतर का पशुभाव दूर करके मानवता को जगाए। इस प्रक्रिया में, एक सक्षम साधन के रूप में, कर्तव्य-बोध हमारे सामने आता है, जिसे पूर्व में कहे गये सुभाषित में 'धर्म' कहकर पुकारा गया है।

अपने स्वार्थ के लिए जीना पशुता है और दूसरों के लिए जीने की चेष्टा करना मनुष्यता की अभिव्यक्ति है। यदि मनुष्य भी केवल अपने लिए जिये, तो उसमें और पशु में कोई अन्तर नहीं। कर्तव्य-बोध हमें दूसरों के लिए जीना सिखाता है। अधिकार-बोध यदि स्वार्थ का द्योतक है, तो कर्तव्य-बोध निःस्वार्थता का। मैसूर के महाराजा के पत्र के उत्तर में स्वामी विवेकानन्द ने जो लिखा था, उसकी कुछ पंक्तियाँ यों हैं – "मनुष्य अल्पायु है और संसार की सब वस्तुएँ वृथा तथा क्षणभंगुर हैं; पर वे ही जीवित हैं, जो दूसरों के लिए जीते हैं; शेष सब तो जीवित की अपेक्षा मृत ही अधिक हैं।"

कर्तव्य-बोध परिवार, समाज और देश को टूटकर बिखरने से बचाता है। कल्पना कीजिए कि माता, पिता, पुत्र, पुत्री, शिक्षक, विद्यार्थी, अधिकारी, कर्मचारी, व्यवसायी, किसान, मजदूर – सब अपने अपने कर्तव्यों से कतराने लगें। इससे कैसी विशृंखलता की सृष्टि होगी, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। मैं यदि अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता, तो मुझे किसी से यह कहने का अधिकार नहीं है कि तुम अपने कर्तव्य का पालन क्यों नहीं कर रहे हो? यदि पति अपनी पत्नी के प्रति अपने कर्तव्य को न निभाये, तो उसे पत्नी से यह कहने का अधिकार नहीं मिलता कि तुम अपना कर्तव्य नहीं निभा रही हो।

सारांश यह कि कर्तव्य-बोध ही जीवन की धुरी है। वह हमारी मनुष्यता को प्रकट करके हमें सही अर्थों में मनुष्य बनने की राह पर ले जाता है। जिस परिवार, जिस समाज और जिस देश में जितनी संख्या में ऐसे कर्तव्य-बोध से भरे हुए मनुष्य होते हैं, वह परिवार, वह समाज और वह देश उतनी मात्रा में बलवान, सम्पन्न और सुदृढ़ होता है। ❖ **(क्रमशः)** ❖

श्रीरामकृष्ण की कथाएँ और दृष्टान्त

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान कथाओं तथा दृष्टान्तों के माध्यम से धर्म के गूढ़ तत्त्व समझाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत किया जा रहा है। जनवरी २००४ से जून २००५ तक और तदुपरान्त अप्रैल २००६ अंक से ये पुन: प्रकाशित हो रही हैं – सं.)

– १४० –

ब्रह्म चीनी का पहाड़ है

मनुष्य सोचता है कि हम ईश्वर को जान गए।

एक चींटी चीनी के पहाड़ के पास गयी। एक दाने से ही उसका पेट भर गया, दूसरा दाना मुँह में लिए अपने डेरे को जाने लगी। जाते समय वह सोच रही थी कि अब की बार आकर समूचे पहाड़ को ले जाऊँगी। क्षुद्र जीव ऐसा ही सोचते हैं – वे नहीं जानते कि ब्रह्म वाक्य-मन के अतीत है।

कोई चाहे कितना भी बड़ा क्यों न हो, वह ईश्वर को पूरी तौर से जान नहीं सकता। शुकदेव आदि मानो बड़े चींटे हैं – चीनी के आठ-दस दाने मुँह में ले सकते हैं।

– १४१ –

आत्मा कर्ता नहीं, द्रष्टा है

वायु में कभी सुगन्ध मिलती है, कभी दुर्गन्ध; पर वायु दोनों से निर्लिप्त रहती है। शुद्ध आत्मा में स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर विद्यमान हैं, पर आत्मा वायुवत् निर्लिप्त है।

व्यासदेव यमुना पार जानेवाले थे। इतने में उसी तट पर गोपियाँ भी आ गयीं। उन्हें भी दूध, दही और मक्खन बेचने के लिए पार जाना था, परन्तु नाव का कोई ठिकाना न था। सब सोच रही थीं, उस पार कैसे जायँ। गोपियों ने व्यासदेव से कहा – "महाराज, अब क्या किया जाय?' व्यासदेव बोले – "ठीक है, मैं तुम लोगों को पार करा दूँगा, पर मुझे बड़ी भूख लगी है, तुम्हारे पास खाने-पीने का कुछ है?" गोपियाँ उन्हें दूध, दही, मक्खन, रबड़ी आदि सब खिलाने लगीं। व्यासदेव ने करीब-करीब उनके सारे बरतन खाली कर दिये।

गोपियाँ बोली – "महाराज, पार जाने का क्या हुआ?" व्यासदेव यमुना के किनारे जाकर खड़े हुए और कहने लगे – "हे यमुने, यदि आज मैंने कुछ भी न खाया हो, तो तुम्हारा जल दो भागों में बँट जाय, बीच से रास्ता निकल आये और हम लोग उस पार चले जायँ।" उनके कहते ही वैसा हो गया – यमुना के दो भाग हो गये। उसके बीच में से उस पार जाने की राह निकल आयी। व्यासदेव उसी रास्ते गोपियों के साथ उस पार पहुँच गये। गोपियाँ दंग रह गयीं। सोचने लगीं – इन्होंने अभी-अभी तो इतनी चीजें खायीं, फिर भी कहते हैं – 'यदि आज मैंने कुछ न खाया हो'।

व्यासदेव ने जो कहा था – 'मैंने नहीं खाया', इसका अर्थ यह है कि मैं शुद्ध आत्मा हूँ और शुद्ध आत्मा निर्लिप्त है, प्रकृति के परे है। उसे न भूख है, न प्यास; न जन्म है, न मृत्यु; वह अजर, अमर और सुमेरुवत् है ! जिसे ब्रह्मज्ञान हुआ हो, वह जीवन्मुक्त है। वह ठीक-ठीक समझता है कि आत्मा अलग है और देह अलग।

– १४२ –

सब कुछ सचेतन है

ईश्वर का दर्शन होने पर सारे संशय चले जाते हैं। उनके बारे में सुनना एक बात है और उन्हें देखना दूसरी बात। सुनने से सोलहों आना विश्वास नहीं होता। साक्षात्कार हो जाने के बाद विश्वास में कुछ भी बाकी नहीं रह जाता।

ईश्वर-दर्शन होने पर बाह्य पूजा का त्याग हो जाता है। इसी तरह मेरी पूजा बन्द हो गयी। काली-मन्दिर में पूजा करता था। एक दिन सहसा जगदम्बा ने दिखाया – सब चेतन है – पूजा की चीजें, वेदी – मन्दिर की चौखट – सब कुछ चेतन है। मनुष्य, जीव, वस्तु – सब चेतन है। तब पागल की तरह चारों ओर फूल फेंकने लगा ! जो कुछ दिखाई देता, उसी की पूजा करने लगा !

ईश्वर के विविध रूप

– १४३ –

सभी जगदम्बा की अभिव्यक्ति

एकांगी भाव के विषय में श्रीरामकृष्ण कहते हैं – "जानते हो, निराकारवादी लोग क्या भूल करते हैं? वे कहते हैं – 'ईश्वर निराकार हैं और बाकी सारे मत गलत हैं।' परन्तु मैं जानता हूँ कि वे साकार-निराकार दोनों ही हैं, और भी कितने प्रकार के बन सकते हैं ! वे सब कुछ बन सकते हैं।

"वे ही चित् शक्ति – महामाया चौबीसों तत्त्व बनी हुई हैं। मैं ध्यान कर रहा था, ध्यान करते-करते मन रसिक के घर में चला गया। रसिक मेहतर है। मन से कहा – 'अरे, रह, वहीं पर रह'। माँ ने दिखा दिया कि उसके घर में जो लोग घूम रहे हैं, वे बाहर का आवरण मात्र हैं, भीतर वही एक कुलकुण्डलिनी, एक षट्चक्र है।"

– १४४ –

ईश्वर का वास्तविक स्वरूप

एक संन्यासी पुरी में जगन्नाथजी के दर्शन करने गया। जगन्नाथजी के दर्शन करने के बाद उसके मन में सन्देह हुआ कि ईश्वर साकार हैं या निराकार। उसके हाथ में एक दण्ड था। यह देखने के लिए कि दण्ड जगन्नाथजी के देह को छू जाता है या नहीं, पहले वह एक ओर से उसे छुलाने लगा, परन्तु दण्ड के आर-पार चले जाने पर भी उनके शरीर से नहीं लगा। इसके बाद उसने दण्ड को दूसरी ओर से छुलाया, तो वह उनकी देह से लग गया। तब संन्यासी समझ गये कि ईश्वर साकार भी हैं और निराकार भी।

– १४५ –

ईश्वर ही सब कुछ हुए हैं

गुरुजी के पास वेद पढ़कर श्रीरामचन्द्र को वैराग्य हो गया। उन्होंने कहा – "संसार यदि स्वप्न के समान मिथ्या है, तो इसका त्याग करना ही उचित है।"

दशरथजी को बड़ी चिन्ता हुई। वे वशिष्ठजी की शरण में गए कि वे राम को समझाएँ ताकि वे संसार का त्याग न करें। वशिष्ठजी ने राम के पास जाकर देखा – वे अन्यमनस्क हुए बैठे हैं, अन्तर तीव्र वैराग्य से भरा हुआ है।

वशिष्ठ ने कहा – "राम, हमने सुना है – तुम संसार छोड़ना चाहते हो। मेरे साथ विचार करो, मुझे समझा दो कि संसार ईश्वर से अलग एक वस्तु है। उनके अतिरिक्त जगत् और कुछ है ही नहीं। वे ही माया, जीव, जगत् सभी रूप में प्रकट हो रहे हैं। क्या छोड़ोगे और क्या ग्रहण करोगे?"

राम ने देखा – ईश्वर ही जीव और जगत् सब कुछ हुए हैं। उनकी सत्ता के कारण सब कुछ सत्य जान पड़ता है। इसलिए वे कोई उत्तर न दे सके। चुपचाप बैठे रहे।

– १४६ –

नाम-रूप के परे देखो

एक साधु अपने एक शिष्य को आत्मज्ञान प्राप्त कराना चाहते थे। वे उसे एक अत्यन्त सुन्दर उद्यान-भवन में रखकर चले गये। कुछ दिनों बाद लौटकर उन्होंने शिष्य से पूछा – "बेटा, तुझे किसी चीज की कमी है?" शिष्य के हामी भरने पर उन्होंने श्यामा नाम की एक सुन्दर स्त्री को वहाँ रख दिया और शिष्य को अच्छी तरह खाने-पीने की सलाह दी।

फिर बहुत दिनों बाद आकर साधु ने शिष्य से वही बात पूछी। इस बार शिष्य ने उत्तर दिया – "नहीं महाराज, मुझे अब किसी चीज की चाह नहीं है।" इसके बाद साधु ने शिष्य और श्यामा दोनों को अपने पास बुलाया और श्यामा के हाथों की ओर संकेत करते हुए शिष्य से पूछा – "ये क्या हैं?" शिष्य बोला, "ये श्यामा के हाथ हैं।" वैसे ही क्रमशः श्यामा की आँखों, नाक, कान आदि सभी अंगों की ओर संकेत करते हुए साधु पूछते गये – "यह क्या है?" शिष्य भी उचित उत्तर देता गया।

ऐसा करते हुए सहसा शिष्य के ध्यान में आया – "मैं बार-बार कह रहा हूँ, यह श्यामा का 'अमुक' है, यह श्यामा का 'अमुक' है, पर वास्तव में श्यामा क्या है?"

विस्मय में आकर उसने गुरु से पूछा – "परन्तु महाराज, जिसकी ये आँखें, नाक, कान आदि हैं, वह श्यामा क्या है?" साधु बोले – "यदि तुम जानना चाहते हो कि श्यामा क्या है, तो मेरे साथ आओ, मैं तुम्हें वह ज्ञान करा दूँगा।" इसके बाद साधु ने उसे आत्मज्ञान का रहस्य समझा दिया।

– १४७ –

जगदम्बा आईं और चली गईं

तपस्या के प्रभाव से नारायण भी सन्तान के रूप में जन्म लेते हैं। कामारपुकुर के रास्ते में रणजित राय का तालाब पड़ता है। रणजित राय के यहाँ भगवती ने कन्या होकर जन्म लिया था। अब भी चैत के महीने में वहाँ मेला लगता है।

रणजित राय वहाँ के जमींदार थे। तपस्या के प्रभाव से भगवती ने उनके घर कन्या के रूप में जन्म लिया था। कन्या पर उनका बड़ा स्नेह था, इसी कारण वह अपने पिता का संग नहीं छोड़ती थी। एक दिन रणजित अपनी जमींदारी का काम कर रहे थे, व्यस्त थे। बच्चों का स्वभाव जैसा होता है, लड़की बार-बार पूछ रही थी – "बाबूजी, यह क्या है? – वह क्या है?" पिता ने बड़े मधुर स्वर से कहा, – "बेटी, अभी जाओ, बड़ा काम है।" पर बच्ची वहाँ से किसी तरह नहीं टली। अन्त में अन्यमनस्क भाव से पिता ने कहा दिया – "तू यहाँ से दूर हो जा।" कन्या वहाँ से चली आयी। उसी समय एक शंख की चूड़ियाँ बेचनेवाला वहाँ से जा रहा था। उसे बुलाकर उसने शंख की चूड़ियाँ पहनीं। दाम देने की बात पर उसने कहा – "घर की अमुक अलमारी की बगल में रुपये रखे हैं, माँग लेना।" और यह कहकर वहाँ से चली गयी, फिर नहीं दीख पड़ी। उधर घर में चूड़ीवाला पुकार रहा था। तब लड़की को घर में न देख, सब इधर-उधर दौड़ पड़े। रणजित राय ने खोज करने जगह-जगह आदमी भेजे। चूड़ीवाले का रुपया उसी जगह मिला। रणजित राय रोते हुए घूम रहे थे, इतने में ही किसी ने कहा – "तालाब में कुछ दीख पड़ता है।" लोगों ने उसके किनारे खड़े होकर देखा, शंख की चूड़ियाँ पहने एक हाथ पानी के ऊपर उठा हुआ था। फिर वह हाथ भी न दीख पड़ा। अब भी मेले के समय भगवती की पूजा होती है।

❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❖ (क्रमशः) ❖ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑

नारदीय भक्ति-सूत्र (६)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के बारहवें अध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी ने अपने १० वर्षों के जापान-दौरों के दौरान वहाँ के करीब ७५ जापानी भक्तों के लिये अंग्रेजी भाषा में, प्रतिवर्ष एक सप्ताह 'नारद-भक्ति-सूत्र' पर कक्षाएँ ली थीं। उन्हें टेप से लिपिबद्ध और सम्पादित करके अद्वैत आश्रम द्वारा एक सुन्दर ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया गया है। वाराणसी के श्री रामकुमार गौड़ ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

यत् प्राप्त न किञ्चित् वाञ्छति, न शोचति, न द्वेष्टि, न रमते, नोत्साही भवति ।।५।।

अन्वयार्थ – **यत् प्राप्य** – जिसे प्राप्त करके, **न किञ्चित्** – कुछ भी नहीं, **वाञ्छति** - इच्छा करता है, **न शोचति** – न चिन्ता, **न द्वेष्टि** – न द्वेष, **न रमते** – न हर्षित, (और) **नोत्साही** – न (कुछ अन्य करने को) उत्साहित, **भवति** होता है।

अर्थ – जिस (भक्ति) को प्राप्त करके भक्त कुछ अन्य पाने की इच्छा नहीं करता, चिन्ता नहीं करता, किसी से द्वेष नहीं करता, किसी अन्य वस्तु से सुखी नहीं होता, और कुछ अन्य करने हेतु उत्साहित नहीं होता।

हम पहले बता चुके हैं कि एक बार इस प्रेम का स्वाद मिल जाने के बाद, इसकी तुलना में जीवात्मा के लिये इच्छा करने योग्य अन्य कुछ नहीं रह जाता। ऐसा अन्य कोई भी अनुभव नहीं रह जाता, जो इसमें कुछ वृद्धि कर सके। यह आनन्द अपार और असीमित होता है। इसे किसी अन्य चीज के द्वारा घटाया या बढ़ाया नहीं जा सकता।

इस प्रेम को प्राप्त करने के बाद, भक्त को कोई कामना नहीं होती, कोई चिन्ता या शोक नहीं होता, किसी से द्वेष नहीं होता, किसी वस्तु के प्रति आकर्षण नहीं होता, उसे किसी अन्य प्रकार के क्रिया-कलाप में कोई उत्साह नहीं रह जाता। यह इस अर्थ में महत्त्वपूर्ण है कि जब हमारी चरम इच्छा पूर्ण हो जाती है तो और भला कौन-सी इच्छा बची रह सकती है? गीता में कहा है कि जब हमें सब कुछ प्राप्त हो जाता है, जब हर इच्छा पूर्ण हो जाती है, तब फिर कोई इच्छा पैदा नहीं हो सकती। भक्ति को प्राप्त कर लेने के बाद व्यक्ति के लिये अन्य कोई वस्तु प्राप्त करने योग्य नहीं रह जाती; ऐसी नहीं रह जाती, जिसके लिये उसके मन में लालसा हो। सभी कामनाएँ पूरी हो जाने से व्यक्ति की कोई इच्छा बाकी नहीं रह जाती। तब भक्त चिन्ता नहीं करता। क्यों? प्रथमत: उसने सब कुछ प्राप्त कर लिया है, उसके लिये कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है। द्वितीयत: उसने जो प्राप्त कर लिया है, वह कभी नष्ट होने वाला नहीं है। अत: उसे कोई दुख नहीं होता। इच्छाएँ हमारी अपूर्णता की भावना से उत्पन्न होती हैं और अपनी कोई प्रिय वस्तु नष्ट होने पर हमें दुख होता है। इस प्रेम की अनुभूति करनेवाले व्यक्ति में कोई अन्य कामना नहीं रह जाती। उसे दुख भी नहीं होता, क्योंकि यह प्रेम नष्ट नहीं हो सकता और इसलिये उसकी किसी भी वस्तु का नाश नहीं होता। मान लीजिये इस संसार में उसे अनेक वस्तुओं का नुकसान उठाना है। उसका शरीर भी किसी समय चला जायेगा। पर उसे इसकी चिन्ता नहीं होती, क्योंकि उसने जो कुछ प्राप्त कर लिया है, उसकी तुलना में ये चीजें नगण्य हैं। अत: उसे दुख नहीं होता। वह सन्तुष्ट रहता है – सदा-सर्वदा सन्तुष्ट रहता है। उसको कोई भी दुख नहीं हो सकता।

हमारे मन में उन चीजों के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है, जो हमारे इच्छित विषयों की प्राप्ति में बाधक होते हैं। हम किसी से द्वेष या घृणा तब करते हैं, जब हम उसे अपनी वांछित वस्तु की प्राप्ति के मार्ग में बाधास्वरूप पाते हैं। चूँकि भक्त उस प्रेम के साथ स्थायी रूप से एकाकार होता है, इसलिये ऐसा कुछ रहता ही नहीं ,जो उसके प्रेम और उसके बीच में कोई भेद या कोई व्यवधान उत्पन्न कर सके। इसलिये उसके मन में किसी के प्रति द्वेष नहीं रहता। ऐसा व्यक्ति किसी से द्वेष या घृणा क्यों नहीं करता, इसका एक और भी कारण है। वह किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति शत्रुता या विद्वेष का भाव नहीं रखता, क्योंकि वह सभी वस्तुओं या घटनाओं में सुस्पष्ट रूप से ईश्वर का ही हाथ देखता है और सभी प्राणियों में ईश्वर को ही निवास करते हुए देखता है। चूँकि वह किसी के भी प्रति किसी प्रकार का द्वेष का भाव नहीं रखता, अत: वह भला किससे घृणा करेगा?

इसके साथ ही उसके मन में किसी प्रकार के उल्लास की भावना भी नहीं रहती। जब हम किसी चीज को पाना चाहते थे, परन्तु प्राप्त नहीं कर पा रहे थे, उसके मिल जाने पर मन में उल्लास का भाव आता है। परन्तु इस व्यक्ति में वैसा भाव नहीं दिखता, क्योंकि उसने सब कुछ पा लिया है और ऐसी कोई अन्य चीज नहीं है जो उसके मन में उल्लास का संचार कर सके। और अन्ततः, वह किसी वस्तु के बारे में उत्साही नहीं होता। उत्साह का अर्थ है – जो हमें कुछ करने को प्रेरित करे। किसके लिये कुछ करना? उपलब्धि – हम इसलिये कुछ करते हैं, ताकि हमें कुछ उपलब्ध हो सके। परन्तु भक्त ने तो सब कुछ प्राप्त कर लिया है, इसलिये उसे कुछ और प्राप्त करने का उत्साह नहीं होता।

यहाँ पर मन में एक सन्देह उठ सकता है। मान लो कि किसी व्यक्ति में ये सारी विशेषताएँ आ गयी हैं, तो फिर उसका जीवन किस काम का? वह तो बस एक पत्थर के टुकड़े के समान हो जायेगा। परन्तु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उसमें उत्साह की अनुपस्थिति उसकी जड़ता-बोध के कारण नहीं, बल्कि उसकी पूर्णता-बोध के कारण होती है। उसके पूर्ण हो जाने के बाद उसमें कोई गति या उत्साह नहीं रह जाता। कल्पना करो – एक बरतन भीतर-बाहर दोनों ओर से पूर्ण है। बरतन समुद्र में डुबाया हुआ है और उसके भीतर -बाहर – दोनों ओर जल है। क्या हम उस जल में किसी गति की कल्पना कर सकते हैं? नहीं कर सकते। गति का अर्थ होगा कि जल एक ऐसे स्थान की ओर बह रहा है, जहाँ जल नहीं है। गति का हमेशा यही अर्थ होता है – एक से खाली होकर किसी दूसरे को भरना। चूँकि भक्त भीतर और बाहर – दोनों ही ओर से उस प्रेम में निमग्न है, अतः उसमें कोई गति नहीं हो सकती। इसीलिये उसमें कुछ प्राप्त करने या सक्रिय होने का उत्साह नहीं होता। यह अकर्मण्यता या जड़ता की अवस्था से बिल्कुल भिन्न है। जड़ता की अवस्था में शक्ति उत्पन्न ही नहीं होती। परन्तु यहाँ भक्त शक्ति से परिपूर्ण है, यद्यपि उसमें कोई क्रिया या गति नहीं है। वह उस प्रेम से परिपूर्ण है, अतः वहाँ कोई गति नहीं है। उत्साह की इस अनुपस्थिति के मूल में यही भाव है।

भक्त में ये ही विशेषताएँ होती हैं, दूसरे शब्दों में भक्ति में प्रतिष्ठित व्यक्ति के ये ही लक्षण हैं। व्यक्ति को साधना या भक्ति द्वारा इन्हीं गुणों की प्राप्ति करनी होती है। इसे साधना कहते हैं, क्योंकि सिद्ध की जो विशेषतायें होती हैं, साधना में व्यक्ति उन्हीं का अभ्यास करता है। अर्थात् उसे अपने मन से भक्ति के सिवा अन्य सभी इच्छाओं को हटाना पड़ता है। पूर्णता प्राप्त कर लेने के बाद वह किसी भी अन्य वस्तु की कामना नहीं करेगा। फिर वह ईश्वर के सिवा अन्य किसी भी वस्तु के लिये किसी तरह के आकर्षण का बोध नहीं करेगा। अतः किसी वस्तु की क्षति होने पर भी वह खेद नहीं करता। यह भी एक प्रकार की साधना है। वह किसी वस्तु से द्वेष या घृणा नहीं करता, क्योंकि अन्य वस्तुएँ सारहीन हो जाती हैं, अतः उसे वैसा उल्लास नहीं होता, जैसा किसी अन्य व्यक्ति को कोई वांछित वस्तु पाने पर होता है। वह भक्ति के सिवा किसी भी अन्य वस्तु को मूल्यवान नहीं समझता। अतः वह किसी वस्तु को पाने हेतु किसी तरह का उत्साह नहीं रखता। वह कुछ करने को उत्साहित नहीं होता।

सामान्यतया, लोग इस बात को समझ नहीं पाते। वे हर चीज पर केवल अपनी जागतिक-अस्तित्व के दृष्टिकोण से ही विचार करते हैं। इसलिये वे सोचते हैं कि जीवित व्यक्ति में उपरोक्त विशेषताओं की उल्टी विशेषताएँ ही अपेक्षित हैं, और उन विशेषताओं से रहित इस भक्त को तो जीवित ही नहीं माना जा सकता। उनकी दृष्टि में भक्त जीवित की अपेक्षा मृततुल्य ही है। पर यदि हम इस पर उपर्युक्त दृष्टिकोण से विचार करें, तो समझ सकते हैं कि भक्त पूर्ण होने के कारण वैसा कोई भाव नहीं रखता, जैसा कि अपूर्ण लोगों में दीख पड़ता है। अपूर्ण व्यक्ति तथा उनका तदनुरूप आचरण, पूर्ण व्यक्ति तथा उसके आचरण से भिन्न होगा। लोग इसे नहीं समझ पाते, इसलिये सोचते हैं कि यह सब निरर्थक है।

मैं एक नाटक पढ़ रहा था, जिसमें एक सिद्ध पुरुष तथा उनकी साधना का वर्णन है। उसमें बताया गया है कि उन्होंने एक दीवाल की ओर देखते हुये नौ वर्ष बिता दिये। इसका विनोदपूर्ण ढंग से वर्णन किया गया है। फिर दो मित्र उनसे मिलने जाते हैं। उनमें से एक उनके परिचित हैं और दूसरे अपरिचित। परीचित व्यक्ति ने अपने मित्र से कहा – ''इन पर आघात करो, पर ये कोई उत्तर नहीं देंगे।'' उस मित्र ने आघात किया, परन्तु उनमें कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। तब इस व्यक्ति ने दूसरे मित्र से कहा – ''तुम भी आघात कर सकते हो।'' दूसरे मित्र ने भी प्रयास किया, फिर भी कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। पुनः पहले मित्र ने कहा – ''क्या मैं और जोर से आघात करूँ?'' दूसरे मित्र ने कहा – ''हाँ, ऐसा ही करो।'' अतः दोनों ने अपनी पूरी ताकत से उन पर अघात किया, तो भी कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। उन दोनों ने केवल स्वयं द्वारा किये गये आघातों की ध्वनि का ही आनन्द प्राप्त हुआ। अन्त में वे बाह्य चेतना में आकर बोले – ''मैं बहरा नहीं हूँ, अन्धा नहीं हूँ, कोई जड़ वस्तु नहीं हूँ। पर मुझे बोध प्राप्त हो गया है।'' तो किसी सिद्ध पुरुष के परीक्षण का यह एक बड़ा अद्भुत तरीका है। न जाने आप लोगों में से कितने लोग इस प्रकार का परीक्षण पसन्द करेंगे।

यहाँ मूल बात यह है कि सिद्ध व्यक्ति की प्रतिक्रियाएँ किसी साधारण व्यक्ति की प्रतिक्रियाओं जैसी नहीं होतीं।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

५५. साहिब सबका एक है

मुगल सम्राट् औरंगजेब अपने एक बेटे अकबर से नाराज थे। उसके डर से अकबर देश छोड़कर ईरान भाग गया। पर उसे अपनी बेटी शुचितुन्निसा के भविष्य की चिन्ता थी। उसने ईरान जाने से पहले अपनी इस नन्ही बेटी को अपने मित्र दुर्गादास राठौर के सुपुर्द करते हुये बेटी का पालन-पोषण करने और उसके बड़ी होने पर बादशाह को सौंपने की प्रार्थना की। दुर्गादास ने शुचितुन्निसा का अपनी बेटी के समान लालन-पालन किया और जब वह बड़ी हुई, तो उसे लेकर एक दिन बादशाह के पास पहुँचा। औरंगजेब बेटे के भाग जाने से बड़ा दुखी था। नातिन को सामने देखकर उसे जहाँ खुशी हुई, वहीं एक काफिर द्वारा उसके पोसे जाने की बात सुनकर उसे दुख भी हुआ। उसने नातिन से कहा – "बेटी, अब तक तुमने एक गैर-मजहबी के यहाँ दिन बिताये, जो इस्लाम के खिलाफ है। तुम अपने महजब के उसूलों से नावाकिफ हो, अत: तुम्हें अपने मजहब के उसूल मालूम होने चाहिये। तुम्हें पहले कुरान की पढ़ाई करनी होगी।"

बादशाह के ये शब्द शुचितुन्निसा को अच्छे नहीं लगे। वह बोली – "बड़े ताज्जुब की बात है कि आपने दुर्गादास चाचा को गैर-मजहबी माना। जिस शख्स ने मुझे अपनी सगी बेटी के समान पाला-पोसा, उसे आपने गलत कैसे समझ लिया। यदि आपने यह समझ लिया हो कि उन्होंने मुझे हिन्दुओं के रंग में रँग लिया है, तो आपकी यह सोच गलत है। शायद आप कल्पना भी नहीं कर सकेंगे कि उन्होंने मेरे मुस्लिम होने के कारण मेरी तालीम के लिये एक मुस्लिम स्त्री को तैनात किया था। आपको यकीन न हो, तो अभी आपको मैं कुरान की आयतें सुना सकती हूँ।"

पोती के ये शब्द सुनते ही औरंगजेब पानी-पानी हो गया। वह दुर्गादास से बोला – "तुम सचमुच इंसान नहीं फरिश्ते हो, जो तुमने बिना भेदभाव किये अपने दोस्त की बेटी का पालन-पोषण भी उसी के मजहबी ढंग से किया। सचमुच तुम धन्य हो।" दुर्गादास ने बादशाह को धन्यवाद दिया और कहा – "मेरे पिताजी की सीख है कि हमें दूसरी जाति या दूसरे धर्म को कभी पराये भाव से नहीं देखना चाहिये, उसे अपने धर्म से नीचा नहीं समझना चाहिये। हमें अपने धर्म का त्याग नहीं करना चाहिये और न दूसरे को अपने धर्म में लाने के लिये उसे विवश करना चाहिये, क्योंकि धर्म भले ही अलग-अलग हों, पर सबका मालिक एक ही है। अलग-अलग धर्मवाले उसे अलग-अलग नाम से जानते हैं। सब धर्म अपने-अपने अनुयायियों को नेक राह की ही शिक्षा देते हैं। इसिलिये मैंने आपकी पोती को इस्लाम धर्म की शिक्षा देने में कोई कोताही नहीं की। **(शेष अगले पृष्ठ पर)**

पिछले पृष्ठ का शेषांश

उसमें कोई अपूर्णता का भाव नहीं रहता, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि वह कहीं किसी प्रकार की अपूर्णता देखता ही नहीं। वह भी अपूर्णताएँ देखता है। पर उसे देखकर उसके मन में एक ही भाव आता है कि इसे पूर्ण कैसे किया जाय। अपने लिये वह सब कुछ पा चुका है, पर उसकी एकमात्र चिन्ता यही रहती है कि जो लोग इसे नहीं पा सके हैं, उनकी वह कैसे सहायता कर सकता है। तब सम्भव है कि वह ऐसे क्रिया-कलापों में लग जाय, जो उसके लिये निरर्थक हों। जब घड़ा जल से भरा रहता है, तो उसमें कोई आवाज नहीं होती, पर जब वह जल किसी दूसरे घड़े में उड़ेला जाता है, तो आवाज होती है। अत: जो व्यक्ति स्वयं में पूर्ण है, उसे अपने लिये किसी प्रकार के क्रिया-कलाप की जरूरत नहीं होती, पर जब वह अपने इर्द-गिर्द अपूर्ण लोगों के दुख-कष्टों को देखता है, तो वह शान्त नहीं रह सकता। तब वह क्रिया-कलापों में लग ही जाता है और वे क्रिया-कलाप उसके अपने लिये नहीं, बल्कि दूसरों के लिये होते हैं।

इस प्रकार यह सब कहा गया है कि भक्त किसी वस्तु की कामना नहीं करता, अर्थात् वह अपने लिये कोई इच्छा नहीं करता, किसी वस्तु की क्षति होने पर दुख नहीं करता अर्थात् अपनी क्षति के लिये खेद नहीं करता। वह अपने लिये किसी प्रकार की प्राप्ति होने पर उल्लसित नहीं होता। अपने निजी लाभ के लिये काम करने में उसकी रुचि नहीं रह जाती। अत: ये सब उसकी अपनी विशेषताएँ ही मानी जानी चाहिये।

ऐसा नहीं कि वह सदा के लिये ठूँठ या चट्टान की भाँति जड़ हो जाय। परन्तु वह स्वयं में किसी भी प्रकार के स्वार्थ भाव से रहित हो जाता है। इसलिये वह अपने लिये नहीं, अपितु दूसरों के लिये कार्य करता है। भक्त के जीवन में सभी प्रकार की समस्याएँ आयेंगी, परन्तु इन्हें एक बिल्कुल अलग दृष्टिकोण से समझना होगा। ❖ **(क्रमशः)** ❖

❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑

५६. सोई गुणज्ञ, सोई बड़ भागी

श्रीराम के बाणों की वर्षा से जब लंकाधीश रावण घायल होकर धराशायी हो गया, तो उन्होंने लक्ष्मण से कहा – ''रावण के पास जाकर पूछो कि इस अन्तिम घड़ी में क्या वह कोई सीख देना चाहता है?'' इस पर रामानुज उद्विग्न होकर बोले – ''पापी शत्रु से भला कोई सीख ली जाती है? उसे अपनी करनी का पछतावा भी न होता होगा। तब वह मुझे क्या शिक्षा देगा?''

''बन्धु'' – श्रीराम ने कहा – ''रावण हमारा वैरी नहीं है। हमारा विरोध तो उसके निन्द्य कर्म से है। वह मरणासन्न दशा में पड़ा है, ब्राह्मण है और अनुभवी शासक भी है। इसलिये हमें उसके अनुभव-युक्त विचार ग्रहण करने ही चाहिये।''

पितातुल्य श्रीराम के आदेशों की अवहेलना करना लक्ष्मण के लिये सम्भव नहीं था। वे रावण के समीप जाकर खड़े हो गये और बोले – ''मैं आपसे कुछ शिक्षा ग्रहण करने की इच्छा से आया हूँ। क्या आप उसे पूरा करेंगे?''

रावण ने उसे अनसुना करते हुए मुहँ फेर लिया। लक्ष्मण ने राम के पास जाकर बताया कि रावण मृत-प्राय अवस्था में है, किन्तु उसका अहंकार अभी भी नहीं गया है। उसने तो मुझे देखकर मुँह फेर लिया। उसे तो अपने दुष्कृत्यों का जरा भी पश्चात्ताप नहीं है।''

तब श्रीराम ने कहा – ''तुम सिराहने खड़े रहकर शिक्षा ग्रहण करना चाहते हो। शिक्षा चरणों के समीप खड़े होकर और विनम्र भाव से ग्रहण की जाती है। रावण के पास पुनः जाकर शिक्षा देने की उससे प्रार्थना करो।''

इस बार लक्ष्मण ने रावण के चरणों के पास खड़े होकर, सिर झुकाकर और हाथ जोड़कर सविनय कहा – ''लंकेश, मैं आप जैसे अनुभवी एवं विद्वान् से शिक्षा ग्रहण करने का इच्छुक हूँ। आशा है, आप मुझे कृतार्थ करेंगे।''

सुनकर रावण मुस्कुराते हुए बोला – ''लक्ष्मण, तुम्हारे द्वारा मेरे लिये लंकेश का सम्बोधन उचित नहीं मालूम पड़ता। 'लंकेश' तो श्रीराम ने मेरे भाई विभीषण को बना दिया है। रही बात शिक्षा की, तो सीता-हरण के दुष्कृत्य के कारण मैं किसी भी प्रकार की शिक्षा देने के अधिकार से वंचित हो गया हूँ। फिर भी यदि तुम मुझसे सीख लेना चाहते हो, तो स्वानुभव के आधार पर तुम्हें तीन बातें बताना चाहूँगा। यदि तुम उनका पालन करोगे, तो तुम्हारा जीवन निश्चय ही सार्थक होगा। इन तीनों बातों को तुम गाँठ बाँध लो – एक तो शुभ कर्म में विलम्ब नहीं होने देना चाहिये। दूसरा – स्वयं को कभी भी क्रोध के वशीभूत नहीं होने देना चाहिये। तीसरा – कोई काम करने से पूर्व खूब सोच-विचार करना चाहिये।'' रावण ने आगे कहा — ''इन बातों का पालन न होने के कारण ही मेरे द्वारा सीता जैसी पतिव्रता नारी का अपहरण हुआ, जिसका मुझे अब पश्चात्ताप हो रहा है।''

लक्ष्मण ने जब श्रीराम को यह वृत्तान्त सुनाया, तो उन्होंने कहा – ''जब कोई व्यक्ति अपने दोषों को शुद्ध हृदय से स्वीकार कर लेता है और उन गलतियों को फिर से न करने का संकल्प करता है, तो वह शुद्धतम प्रायश्चित होता है। इससे उसके मन की व्यथा दूर हो जाती है।''

५७. सोई पूत सपूत है

महाभारत युद्ध के बाद पाण्डवों ने अश्वमेध यज्ञ किया। अश्व की विधिवत पूजा करके उसे छोड़ा गया। अर्जुन उसकी रक्षा के लिये पीछे-पीछे चलने लगे। मणि-जड़ित आभूषणों से सज्जित वह अश्व मणिपुर पहुँचा। वहाँ के राजा बभ्रुवाहन अर्जुन के ही पुत्र थे और उनकी दूसरी रानी चित्रांगदा से प्रसूत थे। बभ्रुवाहन घोड़े के मस्तक पर लगे घोषणापत्र को पढ़कर उसे पकड़ने के लिये पहुँचे, पर उनके हाथ रुक गये, क्योंकि उसे पता चला कि घोड़ा उसके पिता अर्जुन का है।

यह देख अर्जुन बोले – ''अरे, तुम्हारे हाथ इस घोड़े को पकड़ते-पकड़ते ठिठक क्यों गये? तुम क्षत्रिय हो और क्षत्रिय कभी कायर नहीं होता।'' कायर – शब्द सुनते ही बभ्रुवाहन की भौंहें तन गईं। अपनी पौरुषता का अपमान हुआ देख उनका चेहरा तमतमा उठा। किसी भी व्यक्ति द्वारा, फिर वह चाहे पिता ही क्यों न हो, उसके क्षत्रियत्व को ललकारना अपमानजनक बात थी। उसने फौरन तलवार खींच ली और पिता पुत्र के बीच युद्ध होने लगा।

बभ्रुवाहन के आगे अर्जुन टिक न सके और धरती पर गिर पड़े। अर्जुन के मूर्च्छित होने की बात चित्रांगदा को मालूम हुई, तो उसने सौत कलुपी को यह बात बताई और उसके पास के संजीवनी मणि लेकर, उससे उन्होंने अर्जुन की चेतना लौटायी। इसके बाद अर्जुन सब सुनकर बभ्रुवाहन से कहा – ''बेटे, कायर एक बार ही जीता और बार-बार मरता है, पर आत्मविश्वासी और साहसी क्षत्रिय एक बार ही मरता है। शत्रु को सामने देख उससे समझौता करना क्षत्रिय की जिजीविषा वृत्ति कभी भी स्वीकार नहीं करती। युद्ध के क्षणों में ममत्व के आगे घुटने टेकना और प्रतिकार न करना कायरता है। पिता पुत्र के वीरोचित कर्मों पर गर्व का अनुभव करता है, इसलिये उसे चाहिये कि वह युद्ध में अदम्य उत्साह के साथ शत्रु का सामना करे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि तुम सच्चे वीर क्षत्रिय हो और पाण्डु वंश के गौरव हो।''

आत्माराम की आत्मकथा (३३)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। इसकी पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

रामकुण्ड की कहानी

मरी में दो दिन बिताने के बाद निश्चय हुआ कि उतरते समय रामकुण्ड नामक सोते से होकर जायेंगे और स्वास्थ्य में सुधार हेतु वहाँ एक सप्ताह निवास करेंगे। वह मरी पहाड़ के नीचे, मुख्य मार्ग से तीन मील दूर भीतर की ओर स्थित है। संध्या के ठीक पहले हम लोग मुख्य मार्ग के पास के एक गाँव में पहुँचे और निश्चय हुआ कि वहीं रात्रिवास करने के बाद अगले दिन भोर में रामकुण्ड जायेंगे। क्योंकि रास्ते में भय है। यह गाँव जाट मुसलमानों का था। पूछताछ से पता चला कि गाँव के एक किनारे केवल एक सिक्ख गृहस्थ अपने खलिहान के घर में ही रहते हैं। लोग इतने दुष्ट हैं कि रास्ता तक बताना नहीं चाहते। काफी घूमने-फिरने के बाद उनका घर मिला। सिक्ख गृहस्थ बोले – "इतने लोगों को आश्रय देने के लिये स्थान मेरे पास नहीं है, और विशेषकर ऐसे लोगों को, क्योंकि रात में लूट-पाट होने की सम्भावना है। यह मुसलमानों का गाँव है, कोई भी रक्षा नहीं करेगा।"

ये सिक्ख सज्जन और उनकी पत्नी दिन-रात बन्दूक लिये रहते हैं, यहाँ तक कि जब पानी लाने जाते हैं, तब भी भरी हुई बन्दूक कन्धे पर रखी रहती है। तीन पीढ़ियों का खून हो चुका है, तो भी ये लोग अपनी जागीर छोड़कर गये नहीं।

टोली के नेता भगतजी बोले – "चाहे जैसे भी हो, रात बिताने की जगह देनी होगी। उसके बाद जो होना है, सो होगा।" आखिरकार उसने गोशाले की मिट्टी की छत पर स्थान दिया। काठ की सीढ़ी के द्वारा चढ़कर वहाँ पहुँचा गया। सारी रात बारी-बारी से जागकर पहरा देने की व्यवस्था हुई। बातों-बातों में एक गृहस्थ ने कहा कि मेरे पास १५०० रुपये नगद हैं, इसी प्रकार किसी के पास ५०० है, तो किसी के पास ३००। पता चला कि इस प्रकार कुल मिलाकर ४००० रुपये हैं। आपस में खूब कहा-सुनी चल रही थी कि इतने रुपये क्यों लाये कि जान तक जोखम में पड़ गया है! धन ही सारे अनर्थों का कारण होता है। आदि आदि। मैं बोला – "इस स्थान पर उन विषयों पर चर्चा न करके चुप रहना ही अच्छा है। कोई सुन ले तो इससे संकट घटेगा नहीं, बल्कि उसमें वृद्धि की ही सम्भावना है।"

इसके बाद सब चुप हो गये। मैं, एक अन्य साधु और एक गृहस्थ ने रात भर जागकर पहरा दिया। जिन लोगों की बारी थी, उन्हें जगाया नहीं गया। रात में कई बार २-४ की संख्या में मुसलमान लोग आकर उस मकान के आसपास आकर घूमकर चले गये। केवल देखकर ही चले जाते थे। यदि असावधान देखते, तो शायद हमला कर देते। सुबह सिक्ख सज्जन ने सबको दूध पिलाकर विदाई दी। कीमत लेने को किसी भी प्रकार राजी नहीं हुए।

रामकुण्ड में पहुँचकर स्नान आदि किया गया। यह स्थान पहाड़ की एक खाई के भीतर है। चारों ओर फल-फूल का उद्यान है, परन्तु वह पूरा पहाड़ कठोर चट्टानें मात्र हैं। यहीं से होकर एक पगडण्डी कश्मीर के भीतर गयी है। कहते हैं कि राजा मानसिंह ने इसी रास्ते जाकर बादशाह के लिये कश्मीर पर विजय प्राप्त की थी। रामकुण्ड एक सुन्दर सोता या चश्मा था। स्नान आदि के बाद एक बड़े मजे की बात हुई। कुण्ड के बिल्कुल निकट ही स्थित राम-मन्दिर के पुजारी से किसी ने पूछ लिया – इस रामकुण्ड का संस्थापक कौन है?

तत्काल उत्तर मिला – "एक बार राजा मान्धाता शिकार करते हुए वहाँ आये। उस समय यहाँ पानी नहीं था। सब उस सामनेवाले पहाड़ के समान ही सूखा पथरीला स्थान था। उनके साथ वाले सब लोग प्यास से व्याकुल होकर 'पानी' 'पानी' कहकर चिल्ला रहे थे। उसी समय विश्वामित्र ऋषि विचरण करते हुए संयोगवश वहाँ आ पहुँचे। उन्हें देखकर सबके प्राणों में आशा का संचार हुआ।

राजा बोले – 'ऋषिजी, प्राण बचाइये, जल के बिना प्राण निकल रहे हैं।' ऋषि ने कहा – 'क्यों, जहाँ आप खड़े हैं, वहीं पानी है। राम का नाम लेकर बाण मारिये, अभी पानी निकल आयेगा।' तदनुसार राम-नाम लेकर बाण मारते ही हर-हरा-कर पानी निकलने लगा। सबकी जान बची। (कठोर पत्थर के भीतर लम्बा कटा हुआ गड्ढा – बाण द्वारा चीरे हुए पत्थर जैसा ही दिखता है।) राजा बोले – 'ऋषिजी, यह सोता या चश्मा आपके नाम पर प्रसिद्ध होगा।" ऋषि बोले – "नहीं, तुम्हारे वंश में राम का जन्म होगा। ब्राह्मण रावण को मारने के बाद ब्रह्महत्या के पाप को दूर करने हेतु तप करने के लिये वे यहीं आयेंगे। इसलिये यह उन्हीं के नाम से

प्रसिद्ध होगा। तुम नहीं जान सकते, पर मैं दिव्य दृष्टि से सब कुछ देख रहा हूँ!' तभी से यह रामकुण्ड तीर्थ हो गया।''

वहीं पर उसी तरह के और भी दो छोटे-छोटे कुण्ड पास-पास स्थित हैं। उनमें से लक्ष्मण-कुण्ड का प्रवाह बन्द है और सीताकुण्ड में पानी थोड़ा-सा है। एक गृहस्थ भक्त ने पूछा – ''और वह सीताकुण्ड तथा लक्ष्मण-कुण्ड किसने किया?'' पुजारी – ''उन्हीं मान्धाता राजा ने ही सीताकुण्ड बनाया और लक्ष्मण-कुण्ड स्वयं राम ने बनाया।'' एक अन्य गृहस्थ – ''यह मन्दिर किसके द्वारा स्थापित हुआ?'' पुजारी – ''उन्हीं राजा मान्धाता ने ही स्थापना की।''

देखने में आया कि मन्दिर के दरवाजे के ऊपर ही एक शिलालेख लगा हुआ है। वह चूने से ढँक गया था। भगत हरिशा ही सबसे ऊँचे थे। कहने पर उन्होंने ही उसे गीले गमछे से साफ करके पढ़ा – जयपुर के राजा मानसिंह श्रीराम के प्रति भक्ति प्रदर्शनार्थ इसका निर्माण करके व्यय-निर्वाह हेतु कुछ जागीर भी दान कर गये हैं। – ''क्यों पुजारी ठाकुर, आप तो कह रहे थे कि राजा मान्धाता ने निर्माण कराया था!'' पुजारी भी हथियार डालनेवालों में से नहीं थे। बोले – ''संस्कृत जानते हो? वह मान्धाता ही मानसिंह जैसा लिख गया है।'' सभी हँस उठे और समझ गये कि उसके साथ तर्क करने से कोई लाभ नहीं। आखिरकार खोज करने से पता चला कि राजा मानसिंह ने कश्मीर-विजय के लिये जाते समय उसका निर्माण कराया था। और भी अनेक मन्दिर, कूप, सरोवर आदि के रूप में उनकी कीर्ति बनी हुई है। वे सेना लेकर जिस भी अंचल में जाते, वहाँ वे अपने इष्ट श्रीराम का मन्दिर आदि बनवा देते थे।

अब प्रश्न उठता है कि यह जो दुकानदारी-जैसी चल पड़ी है और पुरोहित लोग झूठ का आश्रय लेकर अपना पेट भर रहे हैं, इन लोगों को प्रश्रय देना उचित है क्या? क्या धर्म के नाम पर धन्धा चलानेवालों का ही उन्मूलन कर देना उचित नहीं होगा? आर्य-समाज ने इस मूर्ति-पूजा के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की है। लोग एक-एक मूर्ति लेकर दुकान खोलकर बैठे रहते हैं और रोजगार करने के लिये इस प्रकार झूठी बातों का आश्रय लेते हैं। वैसे जो लोग मूर्ति नहीं रखते, वे अपने रोजगार के लिये अन्य उपायों का अवलम्बन करते हैं। यह समस्या बहुत बड़ी है और इसकी मीमांसा करना भी बड़ा कठिन है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि भगवान के नाम पर ऐसा व्यवसाय बन्द होना चाहिये। इसे दण्डनीय अपराध घोषित कर देना चाहिये। मूर्तिपूजा को बन्द नहीं किया जा सकता। वही भूल होगी, क्योंकि उसके द्वारा असंख्य लोगों का कल्याण होते देखने में आता है। अत: केवल मूर्ति रखकर व्यवसाय करनेवालों पर कठोर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिये। मानता हूँ कि सामान्य श्रेणी के लोगों को भगवान का एक रूप होना आवश्यक है। रूप के बिना वे चल नहीं सकते। उन्हीं के लिये भगवान के रूप की कल्पना की गयी है, न कि ज्ञानियों के लिये। और यदि सभी लोगों को ज्ञानी बनाने का प्रयास किया जाय, तो उसमें भी असफलता ही हाथ लगेगी। उलटे पता चलेगा कि शिवजी की मूर्ति बनाने के प्रयास में बन्दर की मूर्ति बन गयी है। इसीलिये ये दोनों ही भाव जगत् में हैं और रहेंगे। केवल इस ओर विशेष ध्यान रखना उचित होगा कि इसमें दुकानदारी न हो, धर्म-व्यवसायी लोग समाज का नेतृत्व न करें – भगवान की मूर्ति दिखाकर, कोई झूठी कहानियाँ बनाकर, लोगों को ठगकर रोजगार की व्यवस्था न कर सके।

रामकुण्ड में ५-६ दिन रहने के बाद हम लोग (९ मील चलकर) रावलपिण्डी लौटे। वहाँ हम रामबाग में ठहरे। वहीं स्नान, भोजन और विश्राम करने के बाद सभी एक-दूसरे से विदा लेकर अपने-अपने स्थान को चल दिये। रामबाग में स्थानाभाव होने के कारण मैंने उसके पास ही स्थित तपोवन में अड्डा जमाया। भगत हरिशा तथा भगतजी दो दिन बाद फिर आये और पूछा – कुछ आवश्यकता है या नहीं। भगत हरिशा अपने गाँव हरिपुर (हजारा) आने के लिये खूब आग्रह कर गये। तपोवन बिल्कुल निर्जन स्थान है और देखकर बड़ा भय लगता है, इसीलिये वहाँ कोई टिक नहीं पाता। केवल एक खालसा वृद्ध (सिक्ख) वहाँ टिके हुए थे। परन्तु वे अपने पास कुछ रखते नहीं थे। उनके पास टिन की एक भिक्षा की बाल्टी थी, शरीर पर जो वस्त्र थे और इसके अतिरिक्त एक छोटा-सा मोटा चादर था। बस। मेरी सम्पत्ति भी उस समय वैसी ही थी।

पहले दिन रात में बाहर का दरवाजा बन्द करने जा रहा था। खालसा बोले – ''मत करो। बन्द मत करो!'' – ''क्यों?'' बोले – ''बन्द करने से फिर जान नहीं बचेगी। चोरों के हाथ मार खाना पड़ेगा। खुला रहने पर भी वे आयेंगे, देखेंगे, बैठकर आपस में बातें करेंगे, छत पर जायेंगे, परन्तु कुछ बोलना मत। चुपचाप पड़े रहना।''

सोचा – ''यह भी कोई बुरा अनुभव नहीं होगा! पैसे मिलें या न मिलें, परन्तु यदि वे पैसों की आशा में पकड़कर मारने लगें तो! अस्तु। शरीर उस समय अति दुर्बल होने के कारण चलना-फिरना या घूमना असम्भव था, अत: पड़े रहना ही उचित समझ कर वहीं रहा। वहाँ विशेष बात यह थी कि जिन (सरदार बूटासिंह) का बँगला था, वे लोग दिन में एक बार – शाम को रोटी, खिचड़ी, शरबत या सर्दाई के लिये आधा सेर दूध तथा बादाम; कपड़े धोने के लिये साबुन, सप्ताह में एक पाव सरसों का तेल और माँगने पर साफी या

रूमाल-जैसा वस्त्र-खण्ड प्रदान करते थे। साधु के लिये इतना यथेष्ट था। दिन में उन बादामों को पीसकर शरबत पीता और रात में भोजन करता। अच्छा ही लग रहा था। एक दिन दो-तीन चोर आकर देख गये, पर कुछ कहा नहीं।

मेरठ-निवास

कुछ दिनों बाद अनुभवानन्द कश्मीर से ज्वरग्रस्त होकर लौटे। साथ में शं... नाथ थे। रामबाग में कुटिया खाली हुई थी, अत: वहीं ठहरे। उनकी बुखार किसी भी तरह उतरने का नाम नहीं लेता थी। आखिरकार मेरठ से सिद्धानन्द महाराज के बुलाने पर निश्चित हुआ कि वहीं ले जाकर उनकी चिकित्सा करायी जायेगी और यह कार्य मुझे ही करना पड़ा। तपोवन अच्छा लग रहा था, इसलिये इच्छा थी कि फिर आऊँगा, परन्तु मेरठ पहुँचकर सारी योजना बदल गयी।

मेरठ में डॉक्टर घोष का वही मकान, जिसमें स्वामी विवेकानन्द, राजा महाराज, हरि महाराज, गंगाधर महाराज और भी कई पूज्य महाराज-गण अतिथि हुए थे। डॉक्टर घोष नहीं थे, उनके दो दामाद थे। पर अब वह अवस्था नहीं थी, किसी तरह दिन चल जाते थे, केवल पूर्वस्मृति जाग्रत है। सिद्धानन्द महाराज डिस्पेंसरी-भवन के ऊपर रहते थे; कभी स्वयं पकाते, तो कभी भिक्षा माँगकर खाते थे। जब तक अनुभव को ज्वर था, उसे मकान से जुड़े बाहर के कमरे में रखा गया। फिर स्वस्थ हो जाने पर वह सिद्धानन्द महाराज के साथ रहने लगा। उस समय उद्बोधन के उपेन बाबू (दत्त) कश्मीर की श्रीमती मित्र के साथ वहीं थे। रोज संध्या के समय थोड़ा पाठ-भजन आदि होता था।

इस बीच अपने लिये मैं कोई अलग स्थान ढूँढ़ रहा था। एक दिन बिल्वेश्वर मन्दिर में, परमेश्वरजी नाम के एक सज्जन ने अपने मकान में रहने के लिए आग्रह किया। मकान मन्दिर के सामने ही था। बाहर की ओर एक पूर्णत: अलग कमरा था। वे प्रतिदिन भिक्षा देते और सुबह कुछ देर धर्मचर्चा करते। एक दिन दोपहर को दूसरी जगह भिक्षा करने गया। लौटते समय देखा – एक काला मोटा आदमी दरवाजे के पास सीढ़ी पर बैठा है। झट से उठकर चला गया। निकट जाकर देखा – मजबूत लीवरवाले कीमती ताले को मोड़कर प्राय: तोड़ चुका था। जरा-सा बाकी रह गया था। क्या चोर है भाई ! दिन-दहाड़े, रास्ते के किनारे ही उसने ऐसा साहस किया। बाद में देखा कि सभी मकानों में, पूरे केंटोन्मेंट में रात को पहरा रहता था। मैंने सोचा था कि पहरा केवल डॉक्टर घोष के मकान पर ही दिया जाता है। सारी रात – 'जागते रहो, जागते रहो' – बोलता था। एक दिन मैंने उनके पहरेदार से कहा था – "तुम्हारी यह बात बड़ी सुन्दर है। जो जागता रहता है, उसके घर में चोरी नहीं होती। व्यक्ति सजग रहे, तो उसके हृदय की सम्पदा भी चोरी नहीं जाती।"

यह बात जब उसने माँजी और बाबूजी को बतायी, तो वे लोग भी बड़े खुश हुए थे।

स्वामी अद्भुतानन्द के 'सदुपदेश'

उन दिनों स्वामी सिद्धानन्दजी – लाटू महाराज (स्वामी अद्भुतानन्द) की सत्कथा (सदुपदेश) एकत्र कर रहे थे। मैं भी उस कार्य में कुछ-कुछ सहायता करता। इसके बाद मैं दिल्ली के उत्सव में और फिर वहाँ से कलकत्ता गया। शिवरात्रि के दिन मैं मठ में उपस्थित था। इतना ही याद आ रहा है। बाद में सिद्धानन्द जी से फिर भेंट हुई। वे बोले – "सत्कथा बसुमती प्रेस में मुद्रित हो रही है। खोका बाबू मुफ्त छपवा रहे है।" एक फरमा छप गया था। उद्बोधन के डॉक्टर महाराज (पूर्णानन्द जी) उसका सम्पादन कर रहे थे। मैंने देखा कि उसमें भाषा तथा भाव लाटू महाराज के बिल्कुल भी न थे। यह बात मैंने उन्हें बताया और जैसा करना उचित होगा, उसका थोड़ा-सा करके दिखाया। पूजनीय शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्दजी) को दिखाने पर वे सिद्धानन्दजी और उनके बड़े भाई को उसे मेरे द्वारा कराने को कहा। मैंने पहले का डेढ़ फरमा रद्द किया और फिर जहाँ तक हो सका लाटू महाराज की भाषा में सब दुबारा लिखकर छपवाया गया। उद्बोधन के व्यवस्थापक ब्र. गणेन ने प्रकाशक के रूप में अपना नाम रखने की अनुमति दी, पर बोले – यह मत सोचियेगा कि इससे किताब ज्यादा बिकेगी। फिर पूजनीय मास्टर महाशय ने यह कहकर सिद्धानन्दजी को घबरा दिया – "पैसा-मेहनत सब बेकार गया। 'वचनामृत' के रहते लाटू महाराज की बातें कौन खरीदकर पढ़ेगा? बड़ी भूल की। बेकार ही इतना खर्च किया।" (पुस्तक तब तक आधे से अधिक छप चुकी थी) सिद्धानन्द महाराज ने आकर कहा – "भाई, मास्टर महाशय ऐसा कह रहे है। एक बार तो तुमने डेढ़ फरमा रद्द कर दिया। अब क्या करें?"

मैंने उन्हें निर्भय करते हुए कहा – "लाटू महाराज की उक्तियों का महत्त्व है। भरोसा रखिये। यह किताब पड़ी नहीं रहेगी।" फिर बोले – "भाई, मैं तो कुछ समझता ही नहीं,

इसके लिए तुम्हीं उत्तरदायी रहोगे।'' अर्थात् दोष मुझ पर ही डालने की व्यवस्था कर ली। मैं भी राजी हो गया। ठाकुर के उत्सव के दिन मठ में उसकी ४५० प्रतियाँ ले गया था। जल्दी में उतना ही सम्भव हो सका था। सबने बड़े आग्रह के साथ वह किताब ली। केवल २०-२५ प्रतियाँ ही बच गयी थीं। पता चलते ही ब्रह्मचारी गणेन ने आग्रहपूर्वक सारी प्रतियाँ ले लीं और मास्टर महाशय अवाक् रह गये। बाद में उन्होंने कहा था – ''अद्भुतानन्द की सारी बातें अद्भुत हैं।'' मैं दोष से बच गया और सिद्धानन्दजी का नाम हुआ। उस समय मैं त्रिलोचन के साथ ही रहता था। वह बसुमती प्रेस के पास रहता था और इससे मेरे कार्य में सुविधा हुई थी।

फरीदपुर की घटना

यह कार्य पूरा हो जाने के बाद फरीदपुर से प्रकाश बाबू (जो बाद में संन्यासी हुए) का निमंत्रण पाकर मैं वहाँ गया। फरीदपुर में एक घटना हुई – जो भारतीय समस्या है – निम्न जाति के एक वकील बड़े सज्जन थे, बीच-बीच में धर्म-चर्चा के लिए आश्रम में आते। सवर्ण लोग उनके हाथ का स्पर्श किया हुआ पानी नहीं पीते थे। वहाँ के वकीलों के ग्रन्थालय में एक विशेष भोज करके सबको उनका स्पर्श किया हुआ पानी पिलाया गया। मेरे वहाँ रहते एक दिन शाम को वे यह कहकर शीघ्र उठ गये कि किसी ब्राह्मण वकील के यहाँ विवाह का निमंत्रण है। अगले दिन दोपहर को वे आँखें लाल किये आये। मैंने पूछा – ''क्या बात है?'' बोले – ''महाशय, मैंने निश्चय कर लिया है कि यह धर्म त्याग दूँगा। मेरा बड़ा अपमान किया गया है।'' मैं अवाक् रह गया। मुझे कुछ ज्ञात न था, अत: पूछा – ''क्या बात हुई है? धर्मत्याग का प्रश्न क्यों उठा है?'' वैसे मेरे मन में थोड़ा सन्देह हुआ कि उस निमंत्रण के मामले में ही कुछ हुआ होगा। वे बोले – ''महाशय, जिन्होंने निमंत्रण किया था, वे मेरे मित्र थे, इसीलिये गया था। परन्तु पंक्ति में जब सबके साथ बैठा था, तो उन्होंने आकर कहा – आप अभी मत बैठिये, अतिथियों के स्वागत-सत्कार में थोड़ी सहायता कीजिये। मैं उठ गया। उस समय मन में कोई सन्देह नहीं हुआ। फिर सबका खाना हो जाने पर मेरे मित्र का कहीं पता नहीं लगा। सफाई करनेवाले आ गये। मैं बैठक में ही बैठा था। नौकरों से पूछने पर पता लगा कि सब समाप्त हो चुका है और बाबू सोने चले गये हैं। मैंने सोचा – शायद थककर सोने चले गये और मेरे बारे में कहना भूल गये हैं। अस्तु। नौकरों से पूछा – ''खाना है या नहीं।'' – उन लोगों ने पत्तल में खाना ला दिया। मैंने उसी जूठे स्थान में बैठकर खाया। महाराज, यह सब मैंने उन सज्जन पर विश्वास करके किया। बाद में मेरे एक वकील मित्र ने बताया कि खाने की पंक्ति से बुलाकर ले जाना एक चालाकी थी। आज कचहरी में उन्हें खूब खरी-खोटी सुनाकर आया हूँ और जिस धर्म में इस तरह का व्यवहार होता है, उसे मैंने त्याग देने का निश्चय किया है। आपको श्रद्धा करता हूँ, इसीलिए आपको बताने आया हूँ। कहिए, ऐसी दशा में ...।''

सुनकर मैं किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया। अब क्या किया जाय? बोला – ''उस तरह बैठकर आपने खाया ही क्यों? वह आपकी गलती थी। और जहाँ ऐसी सामाजिक अव्यवस्था है, वहाँ जाने पर भी खाना नहीं चाहिए। निमंत्रण करनेवाले व्यक्ति स्वयं शायद भेदभाव नहीं मानते, परन्तु जो लोग निमंत्रित थे, उनमें से अधिकांश इस तरह का भेद-विचार रखनेवाले थे, इसीलिये घटनाक्रम से ऐसा हो गया। इसमें धर्म का कोई भी दोष नहीं, यह तो एक सामाजिक मामला है। आपकी शिकायत बिल्कुल सही है, पर समाज के बाहर जाने से क्या समाज के भीतर के दोष दूर हो सकते हैं? बाहर जाने से समाज में कोई अधिकार नहीं रह जाता और कोई सुनता भी नहीं। हर समाज में कुछ-न-कुछ दोष रहते ही हैं, उन्हें दूर करने के लिए उसी समाज में रहकर आवाज उठानी पड़ती है, चेष्टा करनी पड़ती है, तभी वह सफल होती है। हिन्दू-समाज का यह पाप दूर करने के लिए, इसे शुद्ध करने के लिए, समाज में ही रहकर आन्दोलन कीजिये, तभी भला होगा। जिन भावों के साथ अब तक आपका विकास हुआ है, अन्य समाज में जाने से इनका त्याग करना पड़ेगा और स्वयं को पुन: नये भावों में गढ़ना पड़ेगा। हिन्दू समाज के उच्चतर आदर्श तो सुन्दर ही हैं, उन्हें तो आप पसन्द भी करते हैं और उनसे लगाव भी रखते हैं। दूसरे समाज में जाने से ये नहीं मिलेंगे। इसीलिए धर्मत्याग करने की बात छोड़ दीजिये, यह बुद्धिमानी का काम नहीं है। बल्कि एक काम कीजिये – उसे सबके सामने क्षमा माँगने को कहिये, चूँकि निमंत्रण सार्वजनिक था, इसलिये यह भी सबके सामने हो और मैं भी अपने दो-चार वकील-मित्रों से कह देता हूँ। मेरी बात मानिये और ऐसा ही कीजिये। भविष्य में इससे अच्छा ही होगा।''

काफी देर बाद वे थोड़े शान्त हुए और यह युक्ति मान ली। उसके बाद दो-चार वकील-मित्रों को कहते ही, वे राजी हो गये और दबाव के कारण उस वकील महोदय ने सबके सामने माफी माँगी और उसी दिन उन्हें अपने घर ले जाकर चाय पिलायी। बाद में इन्होंने आकर कहा था – ''आप न होते, तो शायद धर्मत्याग देता, क्योंकि कुछ दिनों से वे लोग बड़ा लोभ दिखा रहे थे। यह समाचार पाकर वे लोग खूब दबाव डाल रहे थे। आपकी युक्ति ने ही मुझे बचा लिया।

विश्वमातृत्व की अभिव्यक्ति : श्रीमाँ सारदा देवी

स्वामी सत्यरूपानन्द

या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ।।

श्री दुर्गा सप्तशती में यह श्लोक है, जिसका आशय है - वह देवी जो सभी भूतों में 'मातृरूप' में स्थित है, उसे बारम्बार प्रणाम! इस श्लोक में एक बहुत महत्वपूर्ण बात अन्तर्निहित है – जिनका जन्म हुआ है, जिनका निर्माण हुआ है, उन सभी में ईश्वर की मातृशक्ति विद्यमान है। मातृरूप व्यक्ति नहीं, यह तत्त्व है। यह जो तत्त्व है, वह सभी जीवों में विराजमान है और इसका प्राकट्य विभिन्न रूपों में, विभिन्न मात्रा में, इस जगत् में दिखाई देता है। जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिम्ब दर्पण में पूर्ण रूपेण प्रकट होता है, उसी प्रकार ईश्वर की मातृशक्ति नारी-देह में सर्वाधिक मात्रा में प्रकट होती है। जिस प्रकार, भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि जब-जब इस धरातल पर धर्म का ह्रास और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब साधुओं की रक्षा, दुष्टों का संहार तथा धर्म की संस्थापना करने के लिये मैं अवतार ग्रहण करता हूँ। उसी प्रकार, श्री दुर्गासप्तशी में देवी ने आश्वासन दिया है कि –

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति,
तदा तदाऽवतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम्।। ११/५४-५५

– 'इस प्रकार जब-जब दानवों के प्रादुर्भाव से विघ्न उपस्थित होंगे, मैं तब-तब अवतीर्ण होकर शत्रुओं का विनाश करूँगी।'

जगत् में जब मातृशक्ति का लोप होता है, पवित्रता, प्रेम, निस्वार्थता, सेवा आदि सद्गुणों का अभाव होता है, पुरुष जब कठोर और लम्पट होते हैं, पुरुषों का पौरुषत्व जब उद्दण्ड और मत्त होता है, तब उनमें आसुरी वृत्ति प्रबल होती है, उनके विनाश का कोई उपाय नहीं रहता, अपवित्रता, स्वार्थता से समाज पीड़ित और व्यथित होता है। तब यह मातृ-शक्ति घनीभूत होकर धरातल पर अवतरित होती है, जिसे हम देवी कहते हैं। पौराणिक कथाओं में मातृ-तत्त्व के प्राकट्य का एक उदाहरण है 'महिषासुरमर्दिनी'।

उन्नीसवी शताब्दी के मध्यमाग में अश्रद्धा, जड़वादप्रियता, भोगपरायणता आदि आसुरी वृत्तियों ने मानव के हृदय-क्षेत्र में संग्राम खड़ा किया है। अन्तर्जगत् में भक्ति-विश्वास, प्रेम-पवित्रता को पूर्णरूप से प्रतिष्ठित करने के लिये, मातृत्व का आदर्श प्रस्थापित करने के लिये, श्रीमाँ सारदा देवी इस धरातल पर अवतरित हुईं। श्रीमाँ ने ही एक भक्त के प्रश्न के उत्तर में कहा था ''बेटा, ठाकुर संसार में प्रत्येक को मातृभाव से देखते थे, जगत् में उसी मातृभाव के विकास के लिये वे मुझे इस बार छोड़ गये हैं।''

जगत् में हम देखते हैं कि शक्ति से ही सृष्टि का उद्गम होता है। प्रकृति की व्यवस्था में भी सभी जीव-जन्तुओं में मादा ही बच्चे को जन्म देती है। मनुष्य में भी स्त्री ही मानव-सन्तान को जन्म देती है और इसी कारण वह जननी कही जाती है। जब हम अपने अस्तित्व का विचार करते हैं, तो हमें प्रतीत होता है कि हमारी जननी हमारे जन्म का निमित्त कारण है और विश्व की सृजन शक्ति उसका मूल कारण है। तभी तो भक्त-शिरोमणि गिरीशचन्द्र घोष के प्रश्न के उत्तर में, श्रीमाँ ने तत्क्षण उत्तर दिया, ''मैं सच्ची माँ हूँ, गुरुपत्नी नहीं, मुँहबोली माँ नहीं, कहने की माँ नहीं, सत्य जननी हूँ।'' इस वाक्य से श्रीमाँ विश्वप्रसवा हैं, इस रहस्य को मानो वे स्वयं उद्घाटित कर रही हैं।

'मातृत्व' स्वयंप्रभ है। इसका आदिकारण कुछ नहीं है। माँ के बिना हमारा अस्तित्व नहीं है। हमारा प्रथम पोषण जननी के द्वारा होता है। थोड़े बड़े होते ही हम जो पदार्थ सेवन करते हैं, वे सभी धरती-माँ के द्वारा प्रस्तुत हैं। यह भी प्रकृति की व्यवस्था है। 'घास का एक छोटा-सा तिनका और वट का विशाल वृक्ष' तथा 'कटीला कैक्टस और सुवासित दोलन चम्पा' का जन्म मिट्टी से होता है और वे धरती से समान पोषण-तत्त्व प्राप्त करते हैं। इसलिये धरती को 'माँ' कहा जाता है। यह जो मातृत्व शक्ति है, वह सभी प्रकार से सन्तान का पालन-पोषण कर रही है, उसकी रक्षा कर रही है और कल्याण भी कर रही है।

वेदान्त में प्रकृति को माया कहा गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है – ''***मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्***'' – 'यह प्रकृति ही माया है और उस माया का शासनकर्त्ता वह परमेश्वर है।'

मातृत्व शक्ति, आसुरी-वृत्तियों से सन्तान की रक्षा किस प्रकार करती है, इसका एक उदाहरण उपनिषदों में आता है। केनोपनिषद् में एक अत्यन्त सुन्दर आख्यान है। देवताओं को जब अहंकार हो गया तब ब्रह्म ने यक्ष का रूप धारण किया, जिसका तेज अत्यन्त विलोभनीय था। इस तेज से प्रभावित देवों ने, उसे जानने का प्रयास किया। सर्वप्रथम अग्निदेव यक्ष के सम्मुख प्रस्तुत होते हैं। तब यक्ष उन्हें एक सूखे घास के तिनके को जलाने के लिये कहते हैं, किन्तु अग्निदेव उसे जलाने में असमर्थ हो गये। फिर वायुदेव उनके पास गये। वे भी उस तिनके को उड़ाने में असफल रहे। अन्त में, आत्मपरीक्षण करते हुये जब इन्द्रदेव उनके सामने प्रस्तुत हुये, तब वह यक्ष अदृश्य हो जाते हैं और इन्द्रदेव की प्रार्थना तथा शरणागति के

पश्चात् वहाँ एक देवी प्रकट होती है, जो साक्षात् 'ब्रह्मविद्या' है। वह अत्यन्त सुन्दर, तेजस्वी 'उमाहैमवती' कही गयी है। इस देवी ने इन्द्र देव को ज्ञान प्रदान किया।

श्रीरामकृष्ण के एक भक्त थे – हरीश। भगवान श्रीरामकृष्णदेव की लीला समाप्ति के पश्चात् जब श्रीमाँ कामारपुकुर के गृह में अकेली रहती थीं, तब हरीश कामारपुकुर में आकर कुछ दिन रहे। हरीश तब विक्षिप्त होने के कारण एक दिन माँ के पीछे दौड़े। श्रीमाँ ने धान की मँड़ई का चक्कर लगाना शुरू किया। हरीश पीछा करते रहे, तब माँ ने अपना वगला रूप धारण कर उन्हें शासित किया, तभी वे शान्त हो गये और तत्पश्चात् सदा के लिये स्वस्थ हुये। यह थी श्रीमाँ द्वारा सन्तान की रक्षा !

श्रीमाँ के जीवन का प्रत्येक व्यवहार, प्रत्येक कर्म, प्रत्येक वाक्य 'मातृत्व' से ओत-प्रोत है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं, श्रीमाँ के जीवन की एक चर्या है और वह है 'मातृत्व'। आइये पहले हम यह समझ लें कि जननीत्व और मातृत्व में क्या अन्तर है? जननीत्व प्रकृति की प्रकिया है और मातृत्व साधन-सापेक्ष है। यह तपस्यालब्ध है। यह नारी -जीवन का परम लक्ष्य है। यह नारी-जीवन के विकास की चरम सीमा है। हिन्दू या आर्य संस्कृति में मानव जीवन का ध्येय है 'ईश्वर प्राप्ति' या 'आत्मानुभूति'। इसी को धर्म कहा गया है। स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं – Religion is Realisation. इसी को हम अलग शब्दों में कह सकते हैं कि 'मातृत्व' में प्रतिष्ठा होना। आर्य-संस्कृति में कन्या के जीवन के तीन क्रम बताये गये हैं – कन्या, सहधर्मिणी और मातृत्व। मातृत्व उसके जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि है और वह श्रीमाँ के जीवन में किस प्रकार प्रकाशित है, इसे देखें।

श्रीमाँ के जीवन के कन्या-पक्ष का जब हम विचार करते हैं तब यह दिखाई देता है कि छोटी सारदा एक आदर्श कन्या है। अपने छोटे भाईयों की सेवा इतने मन-प्राण से कर रही है, मानो एक छोटी माँ अपने बच्चों का लालन-पालन कर रही है। यह बलिका सदा सेवारत है। एक बार १८६४ में, उस भूखण्ड में भीषण अकाल पड़ा। उनके पिता उदार थे। उन्होंने अपने धान-संग्रह के आधार से अन्न-क्षेत्र खोल दिया। अनेक दरिद्र, भूखे लोग आकर वहाँ भोजन करते। कभी अतिथियों की संख्या इतनी अधिक होती कि दुबारा खिचड़ी पकायी जाती। एक दिन ऐसा ही हुआ। क्षुधार्त लोगों को गरम-गरम खिचड़ी परोस दी गयी। उनकी खिचड़ी की ओर जो क्षुधार्त दृष्टि थी, उसे देखते ही इस छोटी-सी बालिका का हृदय पीघल गया। वह अपने छोटे हाथों से पंखा लेकर हिलाने लगी, ताकि गरम खिचड़ी जल्दी ठण्डी हो जाय। इस कन्या में ऐसा विश्वमातृत्व झलक रहा था।

श्रीमाँ के जीवन का दूसरा पक्ष है सहधर्मिणी। धर्म का अर्थ है अनुभूति, जो प्रत्येक आर्य का परम लक्ष्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति सुसाध्य नहीं, पर असाध्य भी नहीं है। इस लक्ष्य-पूर्ति के लिये आर्य-संस्कृति में व्यस्था है। तदनुसार एक युवक का एक युवती से विवाह होता है। विवाह के पश्चात् पत्नी अपने संयमपूर्ण व्यवहार से पति को धर्म के मार्ग पर प्रेरित और अग्रसर करती है। तभी वह सही अर्थ में सहधर्मिणी कहलाती है। ठाकुर ने श्रीमाँ से पूछा – "क्या, तुम मुझे इस संसार-मार्ग में खीचने के लिये आई हो?" श्रीमाँ ने तत्काल उत्तर दिया – "नहीं, मैं तुम्हें संसार-मार्ग पर क्यों खीचने लगी? मैं तो तुम्हारे इष्टपथ की सहायता करने आई हूँ।" कितना स्पष्ट था उन्हें अपना कर्तव्य! श्रीमाँ के जीवन में हम देखते हैं कि धर्म-मार्ग का प्रतिक्षण आचरण करने वाले ठाकुर की सेवा करना कठिन कार्य था। ठाकुर का मन उर्ध्वगामी है, इसलिये उन्हें भोजन कराना आसान नहीं है। इसीलिये माँ उनके लिये विभिन्न प्रकार के व्यंजन बनातीं। उन्हें अलग-अलग कटोरियों में रखकर उनके भोजन की थाली सजातीं। उनके कमरे में जाकर, उनके सामने थाली रखकर उनसे वार्तालाप करतीं, ताकि उनका मन एक से उठकर अनेकों पर जाय, तो उनका भोजन व्यवस्थित हो सके। यहाँ भी उनके मातृत्व का परिचय मिलता है।

'मातृत्व' नारी-जीवन के सर्वोच्च विकास की स्थिति है। यह प्रत्येक नारी के लिये सम्भव है। जननीत्व केवल विवाहित स्त्रियों के लिये सम्भव है और वह भी प्रकृति का साथ हो तभी। प्रकृति में मातृत्व का, माता के प्रेम का कुछ अंश जरूर पाया जाता है, परन्तु स्वार्थ आते ही वहाँ द्वेष और मत्सर आ जाते हैं। क्योंकि जननी में प्रेम की एक जैविक सीमा (Biological Limit) है, जो सीमा नारी के प्रेम को अपने पुत्र तक सीमित कर देती है। नारी अपने पुत्र को जितना प्रेम कर सकती है, उतना प्रेम पराये के पुत्र को नहीं कर सकती।

पौराणिक कथाओं पर यदि हम दृष्टि डालें, तो हम पायेंगे कि गान्धारी महान-पतिव्रता होते हुए भी अधर्म की ओर से लड़ने वाले अपने पुत्र को विजयी होने का आशीर्वाद देने को प्रस्तुत हुईं। महाभारत का युद्ध निर्णायक स्थिति में आते ही, उस महान पतिव्रता ने अपने दुष्ट पुत्र को वज्रदेही बनाने की योजना बनायी। मेरा पुत्र और कुन्ती का पुत्र, यह अपना-पराये का भेद आते ही उनका मातृत्व सुप्त हो गया और जननीत्व प्रधान हो गया।

उत्तानपाद राजा की गोद में बैठे हुए ध्रुव को अपमानित करते समय रानी सुरुची का मातृत्व लुप्त हो गया था, जननीत्व प्रधान हो गया था। ध्रुव मेरा पुत्र नहीं, वह रानी सुनीति का पुत्र है। यह भेद मन में आते ही उसका मातृत्व मृतप्राय हो गया, लोप हो गया और स्वार्थ प्रधान हो गया।

आइये, हम अपनी माँ का जीवन देखते हैं। सन् १९१७ में पूजा के समय माँ जयरामबाटी में थीं। मामा लोगों के बाल-

बच्चों के लिये नये कपड़े खरीदने के लिये एक ब्रह्मचारी को आदेश दिया था, जो स्वदेश-सेवी थे। इसीलिये वे देशी कपड़े खरीद लाये, जो मोटे थे और जिनके किनारे अच्छे न थे। अत: लड़कियों को वे कपड़े पसन्द न आये। उन्हें लौटाकर दूसरे महीन कपड़े लाने को श्रीमाँ ने कहा। इससे तंग आकर ब्रह्मचारी जी बोले, 'वे कपड़े तो विलायती होंगे, उन्हें फिर क्या लाऊँ'? तब माँ मुस्कुराती हुई बोलीं, "बेटा विलायतवाले भी तो मेरे ही बच्चे हैं।" यह था उनका विश्वमातृत्व। केवल उदारता, जहाँ भेदभाव का पूर्णत: अभाव है।

डाकू अमजद का उदाहरण भी हम सभी जानते हैं। अमजद नामक डाकू, चोर, लुटेरा जो सबके द्वारा घृण्य है। वह माँ के घर आता है। श्रीमाँ स्वयं उसे गर्भधारिणी-माँ के समान भोजन कराती हैं और भोजनोपरान्त स्वयं अपने हाथ से उसकी पत्तल उठाती हैं। यह देखकर उनकी भतीजी नलिनी कहती है – बूआ, तुम्हारी जात गई। तब तत्काल माँ कहती हैं, "जैसे शरद मेरा बेटा है, वैसे ही अमजद भी मेरा बेटा है।" कहाँ ब्रह्मज्ञ पुरुष स्वामी सारदानन्द और कहाँ डाकू अमजद ! दोनों पर सदा विद्यमान है माँ का समान मातृत्व।

यद्यपि 'समान प्रेम' मातृत्व का एक आवश्यक गुण है, तथापि मातृत्व के लिये अन्य आवश्यक गुण हैं और वे हैं – परम पवित्रता, अहैतुक प्रेम, निस्वार्थ सेवा, त्याग एवं बलिदान।

आइये, इन गुणों का 'श्रीमाँ के जीवन-प्रकाश' में हम देखने का प्रयास करें।

श्रीमाँ के जीवन में परम पवित्रता ओत-प्रोत है। उन्हें 'पवित्रता-स्वरूपिणी' कहा गया है। स्वामी विवेकानन्द जब उनके दर्शन करने जाते थे, तब उसके पूर्व बार-बार गंगा में डुबकी लगाते थे और मुख में गंगाजल डालते थे। उन्हें ऐसा करते देखकर स्वामी तुरीयानन्दजी ने कहा – 'यह क्या कर रहे हो? यदि बुखार आ जाय तो?' तब स्वामीजी कहते हैं – 'मैं पवित्रता-स्वरूपिणी माँ के दर्शन हेतु, अपने आप को पवित्र कर रहा हूँ।'

श्रीमाँ जब कमारपुकुर से दक्षिणेश्वर पैदल जा रही थीं, तब उनके साथी आगे निकल गये और तेलो-भेलो मैदान से वे अकेली जा रही थीं। शाम हो चुकी थी। एक दस्यु ने दूर से उन्हें देखकर कहा, 'अरे! इस समय यहाँ कौन खड़ी है? कहाँ जायेगी?' उत्तर देते समय श्रीमाँ ने उन्हें अत्यन्त प्रेम से 'बाबा' (पिताजी) सम्बोधित किया। उनके अलौकिक पवित्रता और प्रेमपूर्ण व्यवहार से उस दस्यु में परिवर्तन हुआ। यह प्रसंग हमें अंगुलिमाल और भगवान गौतम की भेंट तथा अंगुलिमाल की शरणागति का स्मरण दिलाता है।

अहैतुक प्रेम

जयरामबाटी में एक गरीब विधवा थी, जो माँ के भक्तों का सामान ढोने के कारण श्रीमाँ से परिचित थी। वह बालविधवा थी। युवती होने के पश्चात् गाँव के युवक के साथ उसका अवैध सम्बन्ध हुआ। तब बात बढ़ गयी। गाँव की पंचायत ने उसको बहिष्कार करने की योजना बनायी, जिससे माँ दुखी हुईं। माँ के एक कृपापात्र जमींदार-सन्तान ने मामला निपटा दिया। माँ बहुत आनन्दित हुईं। उस भक्त के आते ही माँ ने उन्हें खूब आशीर्वाद दिया। माँ कहती थीं – "मैं भले की भी माँ और बुरे की भी माँ हूँ।"

ठाकुर के भक्त श्री अक्षय कुमार सेन ने मयनापुर से श्रीमाँ के लिये भैंस का घी एक वृद्ध मजदूरीन के हाथ जयरामबाटी भेजा। वृद्धा को वहाँ आते-आते दोपहर हो गयी। वह बहुत थकी हुई थी। श्रीमाँ ने उसे तेल दिया। वह नहा-धोकर आयी। वह श्रीमाँ से भरपेट प्रसाद पाकर तृप्त हुई। श्रीमाँ ने उसे विश्राम कर दूसरे दिन जाने को कहा। माँ ने बरामदे में चटाई बिछाई उसके विश्राम की व्यवस्था की। वह मलेरिया से पीड़ित थी। अत: रात को उसे बुखार हुआ। उसने वह बिछौना गन्दा कर दिया। माँ भोर में उठने की अभ्यस्त थी। सुबह उठकर माँ ने जब उसका गन्दा बिस्तर देखा, तो उसे उठाकर मुरमुरा-गुड़ देकर विदा किया। फिर स्वयं चटाई को धोया और तालाब के किनारे सूखने के लिये डाल दिया। उस जगह को गोबर और मिट्टी से लीपा। ऐसा था माँ का अहैतुक प्रेम !

नि:स्वार्थ सेवा

बचपन से ही माँ में सेवा का गुण पूर्ण विकसित था। जब वे दक्षिणेश्वर में रहतीं, तब सदा सेवारत दिखाई देतीं। नरेन्द्रनाथ आये तो चना-दाल और मोटी रोटी बना रही हैं और राखाल है तो उसके लिये खिचड़ी। कभी कोई सुभक्ता आई तो उसके लिये मिश्री का शरबत।

वृद्धावस्था में श्रीमाँ जयराबाटी में हैं। सुबह तरकारी काटना, भण्डारघर से सामान निकालना, पूजा के बाद प्रसाद बाँटना, कम-से-कम सौ बीड़े पान लगाना, शाम को अपने हाथों से रोटी बनाना, दूध औंटना, लालटेन साफ करना आदि काम वे स्वयं करती थीं।

कोलकाता से आये हुए भक्तों को चाय पसन्द है। चाय के लिये स्वयं दूध लातीं। उनकी चादरें स्वयं धोतीं। घर छोटा है, भक्त आते तो उनके रहने की व्यवस्था करना। किसी भक्त का बच्चा बीमार है, उसके लिये दवा-पानी आदि की व्यवस्था भी वे करती थीं।

त्याग एवं बलिदान

श्रीमाँ के भक्त सुरेन्द्रनाथ गुप्त असम में नौकरी करते थे। वे श्रीमाँ के लिये अण्डी कपड़ा लाना चाहते थे। किन्तु माँ ने मना कर दिया और उसकी जगह थोड़ी जमीन खरीदने के लिये कहा, ताकि साधु और भक्तों की सेवा हो सके।

देशड़ा-निवासी बैरागी एकतारा बजाकर हरिनाम और

भजन गाता था। वृद्ध होने के कारण उसे पेट चलाना कठिन हो गया। प्रथम महायुद्ध के समय कपड़े का सर्वत्र अभाव है। सुबह दस बजे माँ के घर आया है। माँ ने उसे तेल दिया। नहा-धोकर श्रीमाँ के पास प्रसाद पाने के बाद उसने बताया कि पहनने के लिये कपड़ा उसके पास नहीं है। श्रीमाँ ने सुबह स्नान करके जो कपड़ा सुखाने के लिये दिया था, वह नया ही था। उन्होंने उसे दे दिया। माँ के उस स्नेहपूर्ण दान से वह अश्रुपरित नयनों से वहाँ से विदा हुआ।

श्री माँ ने कहा था, "मैं सत् की माँ हूँ और असत् की भी।" केवल इतना ही नहीं वे तो पशु-पक्षी, जीव-जन्तुओं की भी माँ हैं। श्रीमाँ के घर एक 'गंगाराम' नाम का तोता था। वह श्रीमाँ का बहुत लाडला था। माँ उसे 'हरे राम हरे कृष्ण' पढ़ाती थीं। माँ जब पूजा करके बाहर आतीं, तब वह 'माँ माँ' करता और माँ उसे प्रसाद देती थीं। जब वे पान खातीं तो वह उन्हें 'माँ माँ' कह कर पुकारता तथा माँ उसका कारण समझ कर तुरन्त उसे पान खिलाती थीं।

माँ के घर एक गाय थी। एक दिन उसका बछड़ा 'हम्बा-हम्बा' करता हुआ रँभाने लगा। यह सुनकर माँ दौड़कर आयीं और उसे खोल दिया। माँ ने एक बार एक ब्रह्मचारी से कहा, "देखो बिल्लियों को मारना मत उनके भीतर भी तो मैं हूँ।"

ऐसी जो, सबकी ममतामयी माँ हैं, उनसे हम प्रार्थना करते हैं कि –

प्रसीद मातर्विनयेन याचे
नित्यं भव स्नेहवती सुतेषु।
प्रेमैकबिन्दुं चिरदग्धचित्ते
विषिञ्च चित्तं कुरु नः सुशान्तम्।।

सन्दर्भ :– (१) श्रीमाँ सारदा, स्वामी गम्भीरानन्द; (२) माँ सारदा, स्वामी अपूर्वानन्द; (३) ममतामयी माँ सारदा, स्वामी आत्मस्थानन्द; (४) माँ की स्नेहछाया में, स्वामी सारदेशानन्द; (५) जननी और मातृत्व, स्वामी सत्यरूपानन्द (विवेक ज्योति – मार्च ९९)
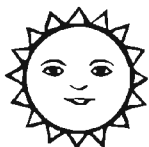
माँ सारदा और दोष-दृष्टि

स्वामी अमलात्मानन्द
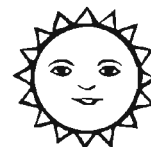
शान्ति का एकमेव उपाय

माँ के देहत्याग में अब केवल चार-पाँच दिन ही बाकी थे। एक भक्त-महिला उन्हें देखने आयीं। भीतर जाना मना होने के कारण वे मन्दिर के द्वार पर ही बैठी थीं। करवट बदलने पर माँ ने उन्हें देखा और इशारे से पास बुलाया। वे प्रणाम करके रोते हुए बोलीं, "माँ, हम लोगों का क्या होगा?" चिर-करुणामयी माँ ने अपने क्षीण कण्ठ से कहा – "भय की क्या बात? तुमने ठाकुर को देखा है, तुम्हें भय कैसा?" थोड़ा ठहरकर वे पुन: रुक-रुककर धीमे स्वर में कहने लगीं, "परन्तु एक बात कहती हूँ – **बेटी, यदि तुम शान्ति पाना चाहती हो, तो किसी के दोष मत देखना। दोष देखना अपने स्वयं के। जगत को अपना बना लेना सीखो, कोई पराया नहीं है, बेटी ! सारा जगत् तुम्हारा अपना है।**"

ठाकुर के देहत्याग के उपरान्त माँ जब वृन्दावन में थीं, उन्हीं दिनों की बातें बताते हुए एक दिन उन्होंने 'उद्बोधन' भवन में कहा था, "देखो बेटी, मैंने राधारमण से प्रार्थना की थी, 'प्रभो, मेरी दोषदृष्टि दूर कर दो। मैं कभी किसी के दोष न देख सकूँ।"

माँ कहा करती थीं, "दोष तो मनुष्य करेगा ही ! उसे देखना नहीं चाहिए। इससे अपना खुद का नुकसान होता है। **दोष देखते-देखते अन्त में केवल दोष ही देखने का स्वभाव बन जाता है।**" एक बार उन्होंने योगेन-माँ से कहा था, "योगेन, दोष किसी के भी मत देखना, नहीं तो आखिरकार दृष्टि ही दूषित हो जायेगी।"

गुण भी देखना चाहिये

एक दिन शाम को माँ बातचीत के बीच कहने लगी, "बेटा, अब मैं और किसी का दोष देख सुन नहीं सकती। जो होता है सब अपने अपने प्रारब्ध कर्मों के फलस्वरूप होता है। जहाँ पहले शरीर में प्रारब्ध कर्मों के फलस्वरूप हल का फल घुसता, वहाँ कम से कम सुई तो चुभेगी ही। उन लोगों ने मेरे सामने र... के दोष की बात कही। पर पहले वे लोग सब कहाँ थे? उसने मेरी कितनी सेवा की है। उन दिनों मैं भाइयों के यहाँ धान उबालती थी। भाभियाँ सब छोटी थीं। उस समय वह ठण्ड और वर्षा की परवाह न करके सबेरे से मेरे साथ धान की बड़ी-बड़ी हण्डियाँ उतारता था। शरीर उसका कालिख से भर जाता था। अब तो बहुत से लोग भक्त बनकर आ रहे हैं। उस समय मेरा भला कौन था? क्या मैं वह सब भूल सकती हूँ? फिर लोगों का भी भला क्या दोष? मेरी नजरों में पहले लोगों के कितने दोष दिखते थे। बाद में ठाकुर के पास रो-रोकर प्रार्थना करने पर कि ठाकुर अब और दोष न देखूँ, तभी दोष देखना दूर हुआ है। मनुष्य का हजार भला करो पर कहीं जरा सी भूल हो जाय तो उसका मुँह उसी समय टेढ़ा हो जाता है। **लोग केवल दोष ही देखते हैं, गुण को देखना चाहिए।**"

माँ कहतीं – "मन से ही सब है – मन से ही शुद्ध है, और मन से ही अशुद्ध। मनुष्य पहले खुद को दोषी बनाता है, तभी दूसरे में दोष देखता है। दूसरों में दोष देखने से भला उसका क्या होगा? खुद की ही हानि होगी। मेरा बचपन से ही यह स्वभाव रहा है कि मैं किसी के दोष नहीं देख सकती। यदि मेरे लिए कोई थोड़ा भी कुछ करता है तो मैं उसे उसी के माध्यम से याद रखने की कोशिश करती हूँ। फिर मनुष्य के दोष देखना? क्या मनुष्य का दोष देखना चाहिए? वह मैंने नहीं सीखा। क्षमा ही तपस्या है।"

जीवन की कुछ घटनाएँ

माँ का अपना जीवन ही उनके इस महान् उपदेश का जीवन्त निदर्शन है। आज स्वार्थपरता रूपी दानव मानव-मात्र को निगलता जा रहा है। प्रतिदिन हम लोग पूर्वापेक्षा अधिक स्वार्थ-केन्द्रित होते जा रहे हैं, जिसके फलस्वरूप हममें दूसरों के गुण को देखने की प्रवृत्ति नष्ट होती जा रही है।

दोष देखनेवाला व्यक्ति सबके विषय में शिकायत करता रहता है। पर सन्त को जगत् से जो कुछ भी दुख मिलते हैं, वह उन्हें चुपचाप सहन कर लेता है और जो सुख मिलते हैं, उनके प्रति सन्तोष रखता है। आचार्य शंकर तितीक्षा या सहनशीलता की परिभाषा करते हुए कहते हैं – "जीवन में आनेवाले सारे दुखों को, बिना कोई चिन्ता-विलाप या प्रतिकार का प्रयास किये, सहन करना तितीक्षा कहलाता है।"

नौबतखाने की तपस्या

दक्षिणेश्वर में उन दिनों वे जिन कठिन परिस्थितियों के बीच रहती थीं, उसका वर्णन रोचक भी है और शिक्षाप्रद भी। कुछ झलकियाँ उन्हीं के शब्दों में – "दक्षिणेश्वर का नौबत-खाना देखती हो न? ठाकुर की सेवा के लिए उस छोटी-सी तंग कोठरी में मुझे कितनी तकलीफ से रहना पड़ता था! उसी के भीतर गृहस्थी की कितनी ही चीजें रखी थीं! ऊपर बहुत से छींके लटकते रहते। ... कभी-कभी बिल्कुल अकेली रहती थी। कभी-कभी गोलाप, गौरदासी आदि भी रहती थीं। इतनी छोटी कोठरी और उसी में रसोई, भोजन सब कुछ। दिन-रात रसोई ही पकती थी। ... रोज तीन-चार सेर आटे की रोटी बनती थी। ... पहले-पहल नौबतखाने की कोठरी में घुसते समय सिर टकरा जाता था। एक दिन तो सिर फूट ही गया, बाद में अभ्यास हो गया था, दरवाजे के सामने पहुँचते ही अपने आप सिर झुक जाता था। कलकत्ते से मोटी-मोटी स्त्रियाँ मुझसे मिलने आतीं। वे दरवाजे की चौखट पर हाथ रखे खड़ी होकर कहतीं, 'अहा! हमारी सती लक्ष्मी कैसी कोठरी में रहती हैं, मानो वनवास है।' "

उन्हें इतनी असुविधाओं के बीच रहकर इतना परिश्रम करना पड़ता, पर उनके मुख से शिकायत का एक शब्द भी नहीं निकला। बल्कि अपने जीवन के उत्तरकाल में सारे कष्टों का उल्लेख करते हुए वे भक्तों से कहतीं – "फिर भी मैं कष्ट नहीं समझती थी। उनकी (श्रीरामकृष्ण की) सेवा में किसी भी प्रकार का कष्ट-बोध नहीं होता था। आनन्द से झटपट दिन कट जाते थे। ... तब किस आनन्द में ही मैं विचरती! कितने ही प्रकार के लोग उनके पास आते! दक्षिणेश्वर में मानो आनन्द का बाजार लगा रहता।"

संगियों का छोड़ जाना

जयरामबाटी से दक्षिणेश्वर आते समय जब माँ के संगी-साथी छोड़कर आगे बढ़ गये और वे डकैत के हाथ पड़ीं, तो भी उन्होंने साथ छोड़ जानेवाले संगियों के प्रति कोई शिकायत का भाव नहीं रखा। फिर दक्षिणेश्वर के तंग नौबतखाने में बड़ी कठिनाई के साथ कर्म-व्यस्त जीवन बिताते समय भी माँ के भीतर सदैव आत्मतृप्ति या सन्तोष विराजता रहता थी और इसीलिए अपनी असुविधाओं के विषय में उनके मन में किसी के प्रति लेश मात्र भी शिकवा-शिकायत का भाव न था। एक बार उन्होंने कहा था – "देखो, बार-बार डकैत की बात मैं कहना नहीं चाहती। लक्ष्मी, शिबू आदि सब मुझे छोड़कर चले गये थे। अब इन बातों की चर्चा होने पर ये लोग पश्चाताप करते हैं, संकोच करते हैं। और चाहे कुछ भी हो, उन लोगों से अन्याय तो हो ही गया है। वे लोग मेरे ही जेठ के तो पुत्र-पुत्री हैं, सबके सामने बार-बार वह बात कहने से उनका अपमान होता है।"

ब्रह्मचारी को अभय-दान

स्वामी शिवानन्दजी उन दिनों बेलूड़ मठ की व्यवस्था देखते थे। एक दिन ब्रह्मचारी छोटा नगेन (अक्षर-चैतन्य) से कुछ भूल हो गई। इस पर उनके समवयस्कों ने उन्हें डराया कि शिवानन्द जी उन्हें मठ से निकाल देंगे। ब्रह्मचारी बिना किसी को कुछ कहे-सुने एक कपड़ा पहने पैदल जयरामबाटी के लिए रवाना हो गए। जब वे माँ के घर पहुँचे, तब उनका फटा कपड़ा और रूखा चेहरा देख किसी को पहले पता ही न चला कि वे बेलूड़ से आ रहे हैं। बाद में जानने पर श्रीमाँ ने उन्हें एक जोड़ी सफेद धोती और एक चादर दिलवाई एवं मठ में शिवानन्दजी को पत्र लिखवाया, "बेटा तारक, छोटा नगेन ने तुम्हारे पास कोई अपराध किया है। तुम उसे मठ से निकाल दोगे, इसी भय से वह सारा रास्ता पैदल चलकर मेरे पास आया है। बेटा, बच्चा क्या माँ के पास अपराधी होता है? बेटा, तुम उसे कुछ न कहना।" उत्तर जब तक नहीं आया, तब तक उन्होंने नगेन को अपने पास ही रखा। लौटती डाक से ही उत्तर मिला, "छोटा नगेन आपके पास चला गया है, यह जानकर निश्चिन्त हुआ। हम भी उसकी खोज कर रहे थे कि कहाँ गया। उसे भेज दीजिएगा, यहाँ

पूजा के लिए लोगों की कमी है। मैं उसे कुछ भी न कहूँगा।'' यह पत्र आते ही माँ के आदेशानुसार उन्हें बेलूड़ मठ भेज दिया गया।

चोर-डकैतों में गुण-दर्शन

वस्तुत: वे बुरों को भी अच्छी दृष्टि से देखकर सबको उन्नति के पथ पर ले जाती थीं। माँ कहतीं, ''दोष तो मनुष्य में लगे ही रहते हैं। किस प्रकार उसे अच्छा किया जाय, यह भला कितने लोग जानते हैं?''

एक दिन शहतूत की खेती करनेवाला एक मुसलमान कुछ केले लाकर बोला – ''माँ, मैं ठाकुर के लिए इन्हें लाया हूँ, क्या आप इन्हें स्वीकार करेंगी?'' माँ ने उन्हें लेने को हाथ बढ़ाते हुए कहा – ''अवश्य लूँगी, बेटा! ठाकुर के लिए लाये हो, तो जरूर लूँगी!'' माँ की गृहस्थी के कार्यों में सहायता के लिए पड़ोस के गाँव की एक महिला निकट ही उपस्थित थीं। वे बोलीं, ''ये लोग चोर हैं, हम जानते हैं। उसकी चीज भला ठाकुर को क्यों दी जायगी?'' माँ ने इस बात का कोई उत्तर न देते हुए उस मुसलमान को खाने के लिए मुरमुरे तथा मिठाइयाँ देने को कहा। उसके चले जाने के बाद माँ उन महिला-भक्त को डाँटती हुई गम्भीर स्वर में बोलीं – ''कौन अच्छा है और कौन बुरा, यह मैं जानती हूँ। तोड़ तो सभी सकते हैं, गढ़ कितने लोग सकते हैं?''

कुमार्ग से सन्मार्ग पर

एक सम्भ्रान्त कुल की महिला कर्म-विपाक से कुमार्ग में पड़ गई, परन्तु सौभाग्य से एक दिन अपनी भूल समझकर 'उद्बोधन' में आकर माँ के कमरे के बाहर से ही कहा – ''माँ, मेरा क्या होगा? मैं आपके पास इस पवित्र मन्दिर में प्रवेश करने के योग्य नहीं हूँ।'' श्रीमाँ ने आगे बढ़कर उसके गले में अपनी पवित्र भुजा डाल दी और स्नेह से कहा – ''आओ, बेटी, कमरे में आओ। पाप क्या है, यह समझ पाई हो; अनुतप्त हुई हो, आओ, मैं तुम्हें मंत्र दूँगी। ठाकुर के चरणों पर सब कुछ सौंप दो, भय क्या?''

सबमें दोष नहीं, ईश्वर-दर्शन

एक दिन माँ और सुधीरादेवी उद्बोधन के पूजागृह के उत्तरी बरामदे में बैठकर निवेदिता विद्यालय के किसी व्यक्ति के बारे में चर्चा कर रही थीं। उसी दौरान माँ कहने लगीं – ''मनुष्य अपने मन का अवलोकन करना नहीं चाहता, केवल दूसरों का दोष देखता है। यदि अपनी त्रुटियों की तरफ दृष्टि रहे और ऐसी चेष्टा करे कि वे दूर हो जायें, तब फिर मनुष्य में दूसरों के दोष देखने की प्रवृति नहीं रहती। पर महामाया ने मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा बनाया है कि वह अपने तिलमात्र गुण को बड़ा करके देखता है, अपनी ही महत्ता को लेकर मशगूल है, दूसरों के बारे में भला सोचे भी तो कैसे? 'सब कुछ ठाकुर ही हुए हैं' – यह बोध रहने पर सभी के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है। एक बार मेरी ऐसी अवस्था थी कि नैवेद्य से चींटियों तक को नहीं भगा सकती थी, ऐसा प्रतीत होता था मानो ये ठाकुर ही हैं। **सबके भीतर ठाकुर को न देख पाने से ही यह सब परनिन्दा, परचर्चा सुखद लगेगा।** स्वयं की उन्नति की चेष्टा न हो, तो व्यक्ति व्यर्थ ही दूसरों के अच्छे-बुरे को लेकर अपने मन को उत्तेजित करता रहता है।

उपनिषदों में लिखा है – मनुष्य जब जगत् के सभी प्रणियों में स्वयं को और स्वयं में जगत् के सभी प्राणियों को देख सकेगा, तब वह आत्मदृष्टि का अधिकारी होगा। यह आत्मदृष्टि ही धर्म का लक्ष्य है। यह अद्वैत दृष्टि ही दर्शन की अन्तिम बात है। सर्वत्र ब्रह्म-दर्शन करनेवाले को भला किसी के दोष कैसे दिखाई दे सकते हैं?

माँ भी सबको पारमार्थिक दृष्टि से नारायण-भाव से और लौकिक दृष्टि से सन्तान-भाव से देखा करती थीं। इस कारण किसी के दोष उनकी दृष्टिपथ पर आते ही न थे। एक बार स्वामी विश्वेश्वरानन्दजी ने उनसे पूछा था – ''आप हम लोगों को किस तरह देखती हैं?'' माँ ने उत्तर दिया – ''नारायण के रूप में।'' फिर प्रश्न हुआ, ''हम सब आपकी सन्तान हैं। नारायण-भाव से देखने पर तो सन्तान-भाव नहीं रह जाता!'' इसके उत्तर में माँ ने कहा, ''नारायण के रूप में भी देखती हूँ, सन्तान के रूप में भी।'' एक दिन किसी ने पूछा – ''मैं जानना चाहता हूँ कि तुम्हें जो 'माँ' कहकर पुकारता हूँ, सो तुम मेरी अपनी माँ हो या नहीं?'' माँ ने उत्तर दिया, ''अपनी माँ नहीं तो और क्या? अपनी ही माँ।''

यही दृष्टिकोण माँ ने अपने रोजमर्रा के जीवन में प्रति क्षण और प्रत्येक आचरण में प्रकट किया है। उन्होंने अपने जीवन में कभी व्याख्यान नहीं दिये, किसी स्कूल-कॉलेज या विश्वविद्यालय में पढ़ाई-लिखाई नहीं की, बल्कि उल्टे अपने युग के कट्टर तथा अति संकीर्ण परिवेश में रहकर भी उन्होंने आकाश के समान उदार मानसिकता प्रगट की है। सचमुच, यह सब कुछ तर्क-विचार के परे की बात है। तभी तो स्वामी अभेदानन्दजी ने अपने 'सारदा-स्तोत्र' में लिखा है – **दोषान् अशेषान् सगुणी करोषि** – वे व्यक्ति के समस्त दोषों को गुणों में परिणत कर देती थीं और यही माँ के जीवन का प्रधान वैशिष्ट्य था। ❑❑❑

यात्रा में विघ्न – आदेश की प्रतीक्षा

स्वामी विदेहात्मानन्द

(अब तक आपने पढ़ा कि कैसे १८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द जी ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। उस समय वे वहाँ के अनेक लोगों – विशेषकर खेतड़ी-नरेश राजा अजीत सिंह के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। तदुपरान्त वे कन्याकुमारी तथा मद्रास पहुँचे और वहाँ से अमेरिका जाने की तैयारी करने लगे। बाद में उनकी अमेरिका-यात्रा और सम्पूर्ण जीवन-कार्य में राजस्थान और विशेषकर खेतड़ी-नरेश का क्या स्थान तथा योगदान रहा – क्रमश: इन सभी विषयों पर सविस्तार चर्चा होगी। – सं.)

रामनाद-नरेश का मत-परिवर्तन

स्वामीजी ने अपने १५ फरवरी (१८९३) के पत्र में राजा अजीत-सिंह को लिखा कि वे आगामी दो-तीन सप्ताह में ही यूरोप के लिये रवाना हो रहे हैं, पर उसके बाद एक सप्ताह के भीतर ही मद्रास में एक ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना हुई जिससे स्वामीजी को अपनी सारी योजना बदल देनी पड़ी – रामनाद के राजा भास्कर सेतुपति ने प्रस्तावित यात्रा-व्यय के प्रसंग में अपना हाथ खींच लिया था। इस घटना का सविस्तार विवरण स्वामी शिवानन्द जी के एक वार्तालाप में मिलता है –

"वहाँ (मद्रास में) वे असिस्टेंट एकाउंटेंट जनरल मन्मथ भट्टाचार्य के घर ठहरे। सुब्रह्मण्य अय्यर उन दिनों वहाँ के एक विख्यात वकील थे। वे तथा अन्य अनेक अच्छे-अच्छे विद्वान् स्वामीजी से मिलने आया करते थे। मैंने बाद में उन लोगों के मुख से सुना कि वहाँ कभी किसी के पास इस प्रकार इतनी बड़ी संख्या में अच्छे-अच्छे लोग नहीं गये थे। वे लोग भी स्वामीजी को अमेरिका भेजने के इच्छुक थे। स्वामीजी ने रुपयों की बात उठाई।

"उन लोगों ने जब रुपयों की बावत रामनाद के राजा से सम्पर्क किया, तो उत्तर में राजा ने लिख भेजा, 'स्वामीजी, मैं रुपये भेजने में असमर्थ हूँ। इस समय मैं रुपये नहीं भेज सकूँगा।' एक अखबार के सम्पादक ने, जो हमारे देश का व्यक्ति था, उनसे कह दिया था, 'महाराज, आप रुपये देकर स्वामीजी को अमेरिका भेजेंगे ! वे तो एक बंगाली विद्वान् हैं, विदेशों में जाकर यदि वे राजनीतिक विचारों का प्रचार करने लगें, तो फिर उसे राजा का ही दोष माना जायेगा।' ... इसीलिए रामनाद के राजा ने डरकर ऐसा लिखा था। ... इससे बल्कि अच्छा ही हुआ। एक व्यक्ति के नाम पर वे भला क्यों जाते ! ठाकुर की इच्छा थी कि उनके अनेक देशवासी उनके जाने की व्यवस्था करें।"[१]

रामनाद-नरेश ने स्वामीजी की यात्रा हेतु दस हजार रुपये देने का वचन दिया था, पर उतना न हो तो भी अमेरिका जाने और वहाँ कुछ काल ठहरने के लिये कम-से-कम तीन-चार हजार रुपयों की जरूरत थी और पूर्व-निर्धारित योजना (मार्च-अप्रैल में इंग्लैंड के लिये प्रस्थान करना) की दृष्टि से समय अल्प था। स्वामीजी तथा उनके स्थानीय मित्र चिन्तित हो उठे। वे आपस में चन्दा करके और घर-घर जाकर धन संग्रह करने लगे। सभी लोग इसके लिए अपने तथा स्वामीजी के परिचित लोगों से मिलने जाने लगे।

फरवरी तृतीय सप्ताह के दौरान पता चला था कि रामनाद के राजा स्वामीजी की पूरी विदेश-यात्रा का भार वहन करने के अपने वचन से पीछे हट गये हैं। अत: आलासिंगा के नेतृत्व में उनके मद्रासी भक्तगण तत्काल धन-संग्रह के कार्य में लग गये। वे लोग मद्रास नगर के ही अपने मित्रों तथा परिचितों के घर जाकर स्वामीजी के हिन्दू धर्म के प्रचारार्थ तथा विश्व-धर्म-महासभा में भाग लेने हेतु उन्हें यूरोप-अमेरिका भेजने के लिये लोगों से चन्दा एकत्र करने लगे। मन्मथनाथ भट्टाचार्य के एक मित्र मधुसूदन चटर्जी हैदराबाद रियासत में सुपरिंटेंडिंग इंजीनियर थे। उनके अनुरोध पर स्वामीजी स्वयं भी १९ या २० फरवरी को हैदराबाद गये। वहाँ पहुँचकर २१ फरवरी को उन्होंने आलासिंगा के नाम एक पत्र लिखा –

द्वारा बाबू मधुसूदन चटर्जी,
सुपरिंटेंडिंग इंजीनियर, खैरताबाद, हैदराबाद,

प्रिय आलासिंगा, २१ फरवरी १८९३

स्टेशन पर मुझे लेने के लिए तुम्हारा वह युवक ग्रेजुएट मित्र तथा एक बंगाली सज्जन आये थे। अब मैं उस बंगाली सज्जन के पास हूँ – कल तुम्हारे उस युवक मित्र के समीप जाकर वहाँ मैं कुछ दिन रहूँगा – तदनन्तर यहाँ की द्रष्टव्य वस्तुएँ देखने के बाद कुछ दिन में ही मैं मद्रास लौटूँगा।

अत्यन्त खेद के साथ मैं तुम्हें यह सूचित कर रहा हूँ कि इस समय मेरे लिए पुन: राजपुताना लौटना सम्भव नहीं है। अभी से यहाँ अत्यन्त गर्मी पड़ रही है, पता नहीं राजपुताने में और भी कितनी भीषण गर्मी होगी और मैं गर्मी बिलकुल

१. स्वामी शिवानन्द से वार्तालाप, विवेक-ज्योति, जनवरी १९९४, पृ. ११५-१७ (बँगला मासिक उद्बोधन, वर्ष ३६वाँ, पौष अंक)

सहन नहीं कर सकता हूँ। अत: यहाँ से मुझे बंगलोर जाना पड़ेगा, उसके बाद ऊटकमण्ड जाकर मुझे गर्मी बितानी है। गर्मी में मानो मेरा मस्तिष्क खौलता रहता है।

"अत: मेरी सारी योजना मिट्टी में मिल गयी और इसीलिए मैं पहले ही मद्रास से शीघ्रातिशीघ्र चल देने के लिए व्यग्र था। तब अमेरिका भेजने के लिए किसी उत्तर भारत के राजा का सहयोग प्राप्त करने का मुझे यथेष्ट समय मिलता। किन्तु क्या करूँ, अब तो काफी विलम्ब हो चुका है। पहले तो ऐसी गर्मी में कहीं जाकर किसी राजा-महाराजा की सहयोग-प्राप्ति के लिए मैं कोई प्रयास न कर सकूँगा – ऐसा करने से मुझे अपने जीवन से ही हाथ धोना पड़ेगा और दूसरा – राजपुताने के मेरे घनिष्ठ मित्रवर्ग मुझे पाकर अपने पास ही आबद्ध कर लेंगे तथा मुझे वे पाश्चात्य देश में नहीं जाने देंगे। अत: अपने मित्रवर्ग से न मिलकर किसी नवीन व्यक्ति की सहायता लेने का विचार था, पर मद्रास में विलम्ब हो जाने के कारण मेरी सारी आशाओं पर पानी फिर गया – मुझे बड़े खेद के साथ अब उस प्रयास को त्याग देना पड़ा – ईश्वर की जो इच्छा है, वही पूर्ण हो! यह मेरे प्रारब्ध का फल है, अन्य किसी का दोष नहीं। पर तुम निश्चित जानना कि मैं शीघ्र ही दो-एक दिन के लिए मद्रास जाकर तुम लोगों से मिलने के बाद बंगलोर जाऊँगा और वहाँ से उटकमण्ड चल दूँगा। देखूँ यदि म. (मैसूर) महाराजा मुझे भेज दें। 'यदि' इसलिए कह रहा हूँ कि मैं किसी द. (दक्षिणी) राजा के वचन पर पूरा भरोसा नहीं रखता। वे राजपूत तो हैं नहीं – राजपूत अपने प्राण दे सकते हैं, पर अपने वचनों से वे कभी डिगते नहीं। अस्तु, 'जब तक जीना, तब तक सीखना' – जगत् में अनुभव ही सर्वश्रेष्ठ शिक्षक है। ...

तुम्हारा, ***सच्चिदानन्द***[२]

मुंशीजी का मद्रास पहुँचना

खेतड़ी के राजा अजीतसिंह तथा मुंशी जगमोहन लाल बड़ी उत्कण्ठा से स्वामीजी की खोज कर रहे थे। स्वामीजी के १५ फरवरी के उस पत्र से उनका पता मिला। राजा ने तत्काल स्वामीजी को ले आने हेतु मुंशीजी को मद्रास रवाना कर दिया। स्वामीजी का वह पत्र राजाजी को २०-२१ तक प्राप्त हुआ होगा और २२ को रवाना होकर मुंशी जगमोहन लाल सम्भवत: २४ फरवरी को मद्रास पहुँच गये।

खेतड़ी ठिकाने के स्टेट-मैनेजर जनाब अब्दुल हकीम[३] की फाइल में एक पत्र की प्रतिलिपि मिली है, जिससे मुंशी जगमोहन लाल की मद्रास-यात्रा पर कुछ नया प्रकाश पड़ता है। राजा अजीतसिंह द्वारा खेतड़ी से ८ मार्च १८९३ ई. को लिखित उक्त पत्र से ऐसा प्रतीत होता है कि मुंशीजी फरवरी के अन्तिम सप्ताह में ही मद्रास पहुँच गये थे, न कि अप्रैल में, जैसा कि **कई लेखकों ने अनुमान लगाया है**। चूँकि यह महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक दस्तावेज अब तक अप्रकाशित है, अत: हम इसका मूल अंग्रेजी रूप भी मुद्रित कर रहे हैं –

Khetri

My dear Jogmohan Lall, 8th March 1893

I am glad to get your letters so frequently and to learn that Swamiji is so kind to me. We all have arrived here safely on the 26th instant (February) by the grace of God. Yes, I received your Telegram just on the day of our leaving Agra, though I could reply that a few days later from Rewari. **I was thinking of writing to you, long since I heard of your reaching Madras**, but did not do so supposing you might have left that for Khetri; today you tell me that Swamiji has not fixed any date for starting, so I write this and think that it may likely reach there, though I don't wish it to get there before your starting. The thing is, as is well known to you that I wish so much to have Swamiji here in the rejoicings which are to begin from the 5th of April. The plan is rather changed owing to its getting hot. Now we did not think it will ... to let so many people gather on a fixed date or to postpone the rejoicings, which were so widely known to nearly everyone of our relations : so we selected the distributive system i.e. to invite our friends and relatives in parties and on different days. According to this our Jalsa will begin from the 4th and will probably lasting till about the 25th of April. The Rao Raja Sahib are expected here on the 4th. It was good that you have visited Rameswar. I hope Swamiji and you will reach here someday unexpected and in time. I always look forward for you or your letter like Wellington. Give my best Dandwats to Swamiji and ask him to come and favour me with his Darshan. The ice and the books will be read. Waiting for you. What the educated people of Madras will find here, I am afraid they may not get disappointed after such a long travel. Now I have this much place to write.

Yours truely,

Munshi Jagmohan Lall (Sd.) Ajit Singh
C/o M. Bhattacharya Esqr.
Asst. Accountant General, St. Thome, Madras

उक्त अंग्रेजी पत्र का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है –

२. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृ. ३८६-८७ (उन दिनों उन्होंने 'सच्चिदानन्द' नाम धारण कर रखा था।)

३. प्रतिलिपि उनके सुपुत्र श्री अब्दुल हादी खान से प्राप्त हुई।

खेतड़ी

प्रिय जगमोहन लाल, **८ मार्च १८९३**

आपके **कई पत्र** पाकर और यह जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि स्वामीजी मुझ पर इतने कृपालु हैं। ईश्वर की कृपा से हम सभी यहाँ २६ तारीख को पहुँच गये। हाँ, जिस दिन हमने आगरा से प्रस्थान किया, उसी दिन मुझे आपका टेलीग्राम मिला, यद्यपि उसका उत्तर मैं कुछ दिनों बाद रेवाड़ी से ही दे सका। मैं काफी समय से – आपके मद्रास पहुँचने की सूचना पाने के बाद से ही आपको पत्र लिखने की सोच रहा था, परन्तु यह समझकर नहीं लिखा कि आप खेतड़ी के लिए चल चुके होंगे, परन्तु अब आप बताते हैं कि स्वामीजी के प्रस्थान करने का कोई दिन अभी निर्धारित नहीं हुआ है। अत: यह पत्र मैं यह सोचकर तथा आशा के साथ लिख रहा हूँ कि शायद यह आपके वहाँ से प्रस्थान करने के पूर्व पहुँच जाय। जैसा कि आपको भलीभाँति विदित है कि **मेरी बड़ी इच्छा है कि स्वामीजी ५ अप्रैल से प्रारम्भ होनेवाले आनन्दोत्सव में उपस्थित रहें।** गरमी बढ़ जाने के कारण कार्यक्रम में थोड़ा बदलाव किया गया है। अब हमने यह उचित समझा है कि एक ही निर्धारित तिथि पर यहाँ इतने लोग एकत्र न हों और न इसे स्थगित ही किया जाय, (क्योंकि) अब यह हमारे सभी सम्बन्धियों को ज्ञात हो चुका है। अत: हमने वितरण-व्यवस्था का चुनाव किया है, अर्थात् हमारे मित्रों तथा सम्बन्धियों को विभिन्न तिथियों पर दलों में आमंत्रित किया जाय। तदनुसार हमारा जलसा दिनांक ४ (अप्रैल) को आरम्भ होकर सम्भवत: **२५ अप्रैल तक** समाप्त होगा। (सीकर के) रावराजा साहेब यहाँ ४ तारीख को आनेवाले हैं।

यह अच्छा हुआ कि आप रामेश्वर हो आये। मैं आशा करता हूँ कि स्वामीजी और आप किसी भी दिन अप्रत्याशित रूप से और इसी दौरान आ पहुँचेंगे। मैं वेलिंगटन के समान आपकी या आपके पत्र की प्रतीक्षा करता हूँ। स्वामीजी को मेरा श्रेष्ठ दण्डवत् प्रणाम ज्ञापित करें और उनसे यहाँ आने तथा दर्शन देने की कृपा करने को कहें। बर्फ और किताबें आने पर उपयोग में लायी जायेंगी। मद्रास के शिक्षित लोगों को यहाँ क्या मिलेगा? मुझे आशंका है कि अपनी लम्बी यात्रा के बाद कहीं वे निराशा का अनुभव न करें। इस समय लिखने को मेरे पास बस इतना ही स्थान है।

आपका, अजीत सिंह

मुंशी जगमोहन लाल

द्वारा एम. भट्टाचार्य एस्क्वायर

उप-महालेखाधिकारी, सेन थोम, मद्रास

उपरोक्त पत्र से ऐसा ज्ञात होता है कि (१) मुन्शीजी सम्भवत: २४ फरवरी को ही मद्रास पहुँच गये थे और वहाँ से अपनी पहुँच की सूचना टेलीग्राम से दी थी। ८ मार्च तक ही वे राजा को कई पत्र लिख चुके थे। राजा मार्च के प्रारम्भ से ही स्वामीजी के खेतड़ी आने की अपेक्षा कर रहे थे। (२) मुंशीजी मद्रास पहुँचकर तत्काल रामेश्वर-दर्शन को गये थे, हमारा अनुमान है कि चूँकि स्वामीजी अभी हैदराबाद से लौटे न थे, अत: उन्होंने इस अवकाश का तीर्थयात्रा में सदुपयोग कर लिया था। (३) स्वामीजी के कुछ मद्रासी अनुरागी भी पुत्रोत्सव देखने के लिये खेतड़ी आने को उत्सुक थे, सम्भवत: वे स्वामीजी का साथ नहीं छोड़ना चाहते थे और भारत से प्रस्थान करने तक उनके साथ ही रहना चाहते थे।

२८ फरवरी को स्वामीजी के हैदराबाद से लौट आने के बाद मुंशीजी को सारी वस्तुस्थिति सविस्तार ज्ञात हुई कि स्वामीजी की यात्रा के लिए कम-से-कम ३००० रुपयों की आवश्यकता थी और जैसा कि आगे उद्धृत किये जानेवाले राजा अजीतसिंह के (११ अप्रैल) पत्र से ज्ञात होता है कि उन्होंने सोचा था कि खेतड़ी के राज-दरबार में स्वामीजी की यात्रा के मद में इतने रुपयों के लिए अनुमोदन करा पाना सम्भव नहीं होगा। स्वामीजी तथा उनके अनुरागी इस राशि-संग्रह के प्रयास में लगे थे। अत: मुंशी जगमोहन लाल **पूरे मार्च (१८९३) भर वहीं ठहरकर** स्वामीजी के शिष्यों द्वारा धन-संग्रह की प्रगति देखते रहे और साथ ही स्वामीजी की स्वीकृति की प्रतीक्षा करते रहे। अप्रैल के प्रारम्भ तक यथेष्ट धन एकत्र हो जाने पर वे स्वामीजी को साथ लिए बम्बई के मार्ग से खेतड़ी के लिए रवाना हुए।*

धन कैसे एकत्र हुआ

कुछ लेखकों ने जानकारियों के अभाव में या भ्रमवश बताया है कि स्वामीजी के अमेरिका-यात्रा का पूरा व्यय-भार

* मुंशीजी के मद्रास पहुँचने तथा स्वामीजी से भेंट का प्रियनाथ सिन्हा द्वारा लिखित एक विवरण बँगला 'उद्बोधन' मासिक के वर्ष ७ अंक १४ (बँगला सन् के भाद्र १३१२, तदनुसार १९०५ ई.) में प्रकाशित हुआ था। (बँगला 'स्मृतिर आलोय स्वामीजी', प्र.सं., पृ. २९४) घटना कुछ इस प्रकार हुई होगी। मुंशीजी स्वामीजी से मिलने मन्मथनाथ के बँगले पर पहुँचते हैं। सेवक उन्हें बैठकखाने में आसीन कराता है। मन्मथनाथ घर में नहीं हैं। मुंशीजी नौकर से कहते हैं – "स्वामीजी को सूचना दे दो कि खेतड़ी से मुंशीजी आये हैं?" भृत्य – "स्वामीजी तो बाहर गये है।" मुंशीजी – "तो फिर वे यूरोप के लिये रवाना हो गये !!" तभी उनकी दृष्टि भीतर लटक रहे एक गेरुए वस्त्र की ओर आकृष्ट होती है और पूछताछ से ज्ञात होता है कि वे हैदराबाद गये हैं। फिर हैदराबाद से लौटने के बाद स्वामीजी ने भी उन्हें बताया होगा कि उनका ही तत्काल यूरोप के लिये रवाना होने का विचार है (देखिये – पिछले अंक में प्रकाशित स्वामीजी का १४ फरवरी का पत्र), अत: उनके लिये खेतड़ी जाना भला कैसे सम्भव हो सकेगा ! परन्तु बाद में अपेक्षित यात्रा-व्यय एकत्र न हो पाने के कारण उन्हें अपनी यात्रा को लगभग डेढ़ माह के लिये स्थगित कर देना पड़ा था।

खेतड़ी के राजा ने उठाया था, परन्तु वास्तविकता यह है कि मुख्यत: आलासिंगा पेरूमल के नेतृत्व में कुछ युवकों द्वारा एकत्र किये गये चन्दे का ही प्रमुख योगदान था। स्वामीजी ने स्वयं भी इस प्रसंग में आलासिंगा के योगदान का उल्लेख किया है। स्वामीजी की एक अमेरिकी मित्र मिस मैक्लाउड ने अपने संस्मरणों में बताया है कि वे जब भारत आयीं, तो बम्बई में आलासिंगा उनका स्वागत करने के लिये आये हुए थे। उन्होंने अपने मस्तक पर वैष्णव सम्प्रदाय का तिलक लगा रखा था। जब उन्होंने स्वामीजी से कहा – 'कितने खेद की बात है कि आलासिंगा अपने मस्तक पर वह वैष्णव-चिह्न लगाते हैं।' तो स्वामीजी उसे सहन नहीं कर सके। बाद में उन्हें पता चला कि "आलासिंगा पेरुमल एक युवा ब्राह्मण हैं, जो मद्रास के एक कॉलेज में दर्शन-शास्त्र पढ़ाकर सौ रुपये मासिक के उपार्जन से अपने माता-पिता, पत्नी तथा चार बच्चों का पालन करते हैं और स्वामी विवेकानन्द को अमेरिका भेजने के लिए धन जुटाने के निमित्त उन्होंने द्वार-द्वार पर जाकर भिक्षा माँगी थी। यदि उन्होंने ऐसा नहीं किया होता, तो शायद हम कभी स्वामीजी से मिल नहीं पाते। तब हमारी समझ में आया कि आलासिंगा पर जरा-सी भी टिप्पणी क्यों स्वामीजी को असह्य हो उठती थी।"[४]

हैदराबाद से लौटकर

ऐसा प्रतीत होता है कि हैदराबाद में स्वामीजी को कुछ आश्वासन मिले थे, परन्तु कोई नगद राशि नहीं मिली थी। फरवरी के अन्त में उन्होंने मद्रास लौटकर पाया कि उनके मित्रों को भी कोई विशेष सफलता नहीं मिल सकी है। कुल मिलाकर वे लोग पाँच सौ रुपये ही एकत्र कर सके थे और वह उन लोगों ने लाकर स्वामीजी के चरणों में रख दिया।

इस अल्प राशि को देखकर स्वामीजी निराश भी हुए और उनके मन में एक द्वन्द्व भी उठा; वे विचार करने लगे – "क्या मैं अपनी इच्छा से क्षणिक उत्साह में आकर यह सब कर रहा हूँ? या फिर इसके पीछे विधाता का कोई गूढ़ उद्देश्य निहित है?" फिर उनके मन में यह प्रश्न भी उठ रहा था कि उस विराट् सभा में हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व करने की योग्यता और क्षमता उनमें है या नहीं! वे बहुत देर तक सोचते रहे और बीच-बीच में जगदम्बा से प्रार्थना करते रहे – "माँ, मुझे बता, तेरी क्या इच्छा है? तू ही तो जगत् की वास्तविक कर्त्री है। मैं तो तेरे हाथ का यंत्र मात्र ही हूँ।" वे सोचने लगे कि यूरोप-अमेरिका जाने की उनकी योजना क्या सचमुच जगदम्बा की इच्छा है या उनकी स्वयं की अभिलाषा? यदि वह जगदम्बा की इच्छा हो, तो फिर धन-संग्रह का प्रयास और उसमें विफलता क्यों? अत: उन्होंने अपने शिष्यों तथा अनुरागियों को बुलाकर कहा – "वत्सगण, मैं अन्धकार में छलाँग लगाने के पूर्व यह जानना चाहता हूँ कि जगदम्बा की क्या इच्छा है। यदि वे मुझे भेजना चाहती हैं, तो वे स्पष्ट रूप से मुझे सूचित करें। उनकी इच्छा हुई, तो धन अपने आप ही आ जायेगा। उसके लिये प्रयास करने की जरूरत नहीं होगी। अतएव इस धन को ले जाकर तुम लोग दरिद्र-नारायणों के बीच वितरण कर दो।" शिष्यगण उनकी यह बात सुनकर चकित रह गये, परन्तु उन लोगों ने चुपचाप स्वामीजी के आदेश का पालन किया। और स्वामीजी के कन्धे से भी मानो एक बहुत बड़ा बोझ उतर गया।[५]

वे पुन: समागत लोगों को शिक्षा देने के अपने कार्य में लग गये। इसके साथ ही वे अपने अन्तर के एकान्त में मार्ग-दर्शन के लिये जगदम्बा और अपने गुरुदेव से प्रार्थना भी करते रहते। बीच-बीच में वे अपने हृदय के भावों को व्यक्त करते हुए भजन भी गाने लगते। उनके शिष्य देख रहे थे कि महा-मेधावी तथा देशभक्त संन्यासी मानो एक सरल शिशु के समान जगदम्बा के आदेश की प्रतीक्षा कर रहे हैं।[६]

❖ (क्रमश:) ❖

४. Reminiscences of Swami Vivekananda, by His Eastern and Western Admirers, Mayavati, Ed. 1994, P. 232

५. इस विषय में एक और विवरण मिलता है। मद्रास के एक प्राध्यापक (?आलासिंगा) ने भगिनी देवमाता को बताया था – "मुझे याद है उन्होंने (स्वामीजी) कहा था – 'हिन्दुओं को और भी कठोर और पाश्चात्य लोगों को और भी मृदु होने की जरूरत है।' मैंने पूछा था, 'आप शिकागो में हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व करने क्यों नहीं जाना चाहते हैं?' इसके उत्तर में वे बोले, 'कोई भेजे, तो मुझे जाने में आपत्ति नहीं है।' हम लोगों में से किसी ने उन्हें दो रुपये दिये। यह पहली बार था कि उन्होंने किसी से रुपये स्वीकार किये थे। वे हँसते हुए बोले, "जो पहला भिक्षुक मिलेगा, उसी को मैं ये रुपये दे दूँगा।" और सचमुच ही उन्होंने किसी गरीब भिखारी को वे रुपये दे दिये थे। शिकागो जाने के पूर्व जो चन्दा एकत्र हुआ था, उसके प्राप्त होते ही उससे उन्होंने अपने प्रिय बच्चों के लिये एक गाड़ी तथा बहुत-से खिलौने खरीद दिये थे।" (Swami Vivekananda : A Hundred Years Since Chicago, Ramakrishna Math & Mission, Belur Math, Ed. 1994, – Vivekananda on the way to Chicago, Swami Chetnananda, Pp. 8-19)

६. स्वामी विवेकानन्द (बँगला), प्रमथनाथ बसु, प्रथम भाग, पंचम सं., १९९४, पृ. २८५ (स्वामीजी की कई जीवनियों में यह घटना उनके हैदराबाद जाने के पूर्व वर्णित है, पर १५ फरवरी को वे पत्र लिखकर खेतड़ी-नरेश को अपनी यूरोप जाने की योजना सूचित करते हैं और २० फरवरी को हैदराबाद की यात्रा करते हैं। स्पष्ट है कि १६ से १९ फरवरी – इन चार दिनों के दौरान ही किसी दिन रामनाद-नरेश का सन्देश आया कि वे आर्थिक सहायता न दे सकेंगे। अत: लगता है कि कई दिनों तक विचार करने के बाद ही यात्रा के लिये चन्दा जुटाने का कार्य शुरू हुआ होगा और सम्भव है स्वामीजी इसी सिलसिले में हैदराबाद गये हों।)

स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण

कांस्टैंस टाउन (कु. गिबन्स)

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आने-वाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं। ये स्मृतियाँ अनेक पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित भी हुए हैं और उनमें से कुछ का हिन्दी में भी प्रकाशन हुआ है। स्वामीजी की एक अमेरिकी महिला के प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ में प्रकाशित हुए थे, वहीं से इसका हिन्दी अनुवादक प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

चालीस वर्ष पूर्व, भारत की प्राचीन दुनिया से एक युवा, साहसी और सुन्दर व्यक्ति का आगमन हुआ, जिनका मुख-मण्डल आत्म-विजय के आलोक से जाज्वल्यमान था। वे बिना किसी निमंत्रण के, बिना किसी घोषणा के और अज्ञात रूप से अमेरिका के अभिनव जगत् में आये थे। ...

वर्तमान पीढ़ी द्वारा अब भी स्मरण किया जाता है कि किस प्रकार स्वामी विवेकानन्द कई बार भोजन-वस्त्र से विहीन होकर भी शान्तिपूर्वक इस जोखिमपूर्ण यात्रा में अग्रसर हुए थे; किस प्रकार वे धर्म-संसद के अधिवेशन में एक प्रतिनिधि के रूप में स्वीकृत हुए थे; किस प्रकार उन्होंने अपने सन्देश की सरलता तथा सुन्दरता से श्रोताओं को रोमांचित कर दिया था और किस प्रकार अगले दिन सुबह तीन महाद्वीपों के महानगरीय अखबारों ने, विश्व के महान् आचार्यों के बीच उनके आध्यात्मिक गुरुता की घोषणा करने में अपनी सारी ऊर्जा खर्च कर डाली थी !

स्वामीजी के बारे में, अब तक अप्रकाशित, मेरी अपनी कहानी विलक्षण प्रतीत होती है। जब पहली बार मैं उनसे मिली, तब उनकी आयु २७ (वस्तुत: ३१) वर्ष थी। वे एक प्राचीन ग्रीक देवमूर्ति के समान सुन्दर प्रतीत हुए थे। पर हाँ, उनका वर्ण साँवला था और उनकी बड़ी-बड़ी आँखें मध्यरात्रि के नक्षत्र-खचित आकाश की याद दिलाती थीं। उनके देश के लोग शारीरिक रूप से जैसे दुबले-पतले दिखाई देते हैं, स्वामीजी उनमें से अधिकांश की तुलना में बलिष्ठ दिखाई देते थे। उनका सिर छोटे-छोटे घुँघराले बालों से परिपूर्ण था। अपनी पहली भेंट के समय मैं अपने पारस्परिक वर्ण-वैषम्य को देखकर विस्मित हो गयी थी। मैं चौबीस वर्ष की श्वेत, लम्बी, दुबली, सुनहरे केशों तथा धूसर नीले नेत्रों से युक्त थी। सम्भवत: इससे बढ़कर वैषम्य हो ही नहीं सकता था।

हमारी भेंट थोड़ी असामान्य थी। शिकागो की उनकी विजय के बाद, न्यूयार्क आने के लिये उन पर मानो निमंत्रणों की बरसात हो गयी। न्यूयार्क – जहाँ पूरे विश्व के महान् लोगों को सम्मानित किया जाता है। वहाँ उन दिनों डॉक्टर एगबर्ट गर्नसी नाम के एक बड़े प्रसिद्ध चिकित्सक निवास करते थे, जो बड़े उदार, साहित्य-प्रेमी तथा सच्चे अतिथिपरायण व्यक्ति थे। उनका विशाल तथा सुन्दर भवन पाँचवें एवेन्यू के ४४ वें स्ट्रीट पर स्थित था। अपनी आकर्षक पत्नी तथा पुत्री के सहर्ष सहयोग से डॉ. गर्नसी बड़े आनन्दपूर्वक विदेश से आनेवाले प्रसिद्ध आगन्तुकों का न्यूयार्क के समाज से परिचय कराया करते थे। स्वामीजी के प्राच्य तथा पाश्चात्य के बीच घनिष्ठतर सम्बन्ध का आदर्श, धर्म तथा विश्व-शान्ति में सहायक था और उनके हृदय को गहराई तक स्पर्श करता था, अत: अपेक्षा थी कि वे महान् स्वामीजी को विशेष रूप से सम्मानित करेंगे।
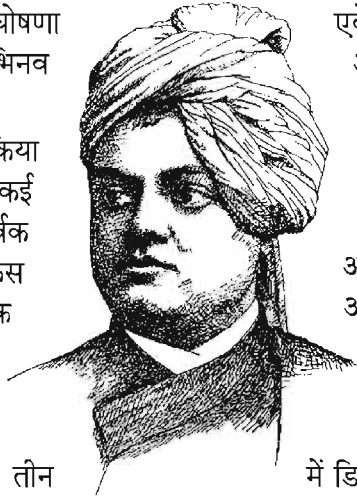
तदनुसार डॉ. गर्नसी ने एक दिन अपराह्न में डिनर का आयोजन किया। ऐसा निश्चित हुआ था कि उसमें आनेवाले प्रत्येक अतिथि एक-एक विशिष्ट धर्म के प्रवक्ता होंगे और उस समय चूँकि रॉबर्ट इंगरसोल नगर से अनुपस्थित थे, अत: डॉक्टर स्वयं ही उनका प्रतिनिधित्व करेंगे। महामान्य कार्डिनल को इसमें रुचि तो थी, परन्तु उन्होंने स्वयं इस भोज में उपस्थित होने या अपने किसी स्थानापन्न पादरी को उसमें भेजने से मना कर दिया। मैं एक कैथॅलिक ईसाई थी और सुप्रसिद्ध जेसुइट पादरी विलियम ओ' ब्राएन पार्डो द्वारा प्रशिक्षित हुई थी, इस कारण मुझे भी उस स्मरणीय अपराह्न भोज में उपस्थित होने का सौभाग्य मिला था। डॉक्टर गर्नसी हमारे पारिवारिक चिकित्सक थे, इसलिए उन्होंने कैथॅलिक मत का प्रतिनिधित्व करने के लिए मुझे बुला भेजा था। उस भोज में डॉ. पार्कहर्स्ट तथा उन दिनों गर्नसी परिवार के साथ ठहरी हुई अमेरिका की सुप्रसिद्ध अभिनेत्री मिनी मैडर्न फिस्के भी आयी थीं। मुझे स्मरण है कि कुल मिलाकर चौदह अतिथि वहाँ उपस्थित थे।

यद्यपि हम लोगों के बीच आपस में अवश्य ही एक मौन समझौता हुआ था कि सभी एक-दूसरे और विशेषकर स्वामीजी के तथाकथित गैर-ईसाई ('मूर्तिपूजक' ज्यादा कठोर शब्द था) मतवाद के प्रति भद्रता का आचरण करेंगे, तथापि खेद की बात है कि भोज ज्यों-ज्यों अग्रसर हुआ, त्यों-त्यों बहस

में गर्मी आती गयी, परन्तु सर्वाधिक गर्मागर्म बहस स्वामीजी के साथ नहीं हुई। सारे मतभेद बाइबिल को माननेवाले भाइयों के बीच ही केन्द्रित थे।

मेरी कुर्सी स्वामीजी की बगल में ही थी। हम दोनों मजे से चुपचाप इस हास्यास्पद साम्प्रदायिक असहिष्णुता को देखते रहे। हमारे मेजबान बीच-बीच में बड़ी कुशलता के साथ कुछ बुद्धिमत्ता एवं विनोद से युक्त टिप्पणियों के द्वारा वार्तालाप को ऐसे स्तर पर बनाये रखते, जो अतिथियों के पाचन-तंत्र के लिये हानिकारक न सिद्ध हो। स्वामीजी यदा-कदा संक्षिप्त वक्तव्यों के सहारे, हम लोगों की परम्पराओं से पूर्णतया भिन्न, अपने देश तथा वहाँ के रीति-रिवाज को मोटे तौर पर समझाने का प्रयास करते, पर सर्वदा उनका असल उद्देश्य होता – अपने धर्म तथा दर्शन को हमारे समक्ष प्रतिपादित करना। अमेरिका में वेदान्त-केन्द्रों की स्थापना का कार्य सम्पन्न करने हेतु उनसे बढ़कर उदार तथा सहिष्णु दृष्टिकोण रखनेवाला कोई अन्य व्यक्ति निश्चित रूप से भारत में कहीं भी नहीं मिल सकता था।

उस अवसर पर उन्होंने एक गहरे गुलाबी-लाल रेशम का बना हुआ गेरुआ लबादा पहन रखा था। उनकी श्वेत पगड़ी पर सुनहरे धागों की कढ़ाई थी। वैसे तो उनके पाँव नंगे थे, परन्तु उन्होंने हल्के भूरे रंग के जूते पहन रखे थे। इस भोज के समय ही हमारी मित्रता का सूत्रपात हुआ। बाद में बैठक-खाने में उन्होंने कहा – "कुमारी गिबन्स! आपके तथा मेरे दार्शनिक मत एक ही हैं, हमारी धार्मिक आस्था की मूल बातें भी समान हैं।"

उन दिनों मैं अपनी माँ के साथ सेंट्रल पार्क के सामने १ नं. ईस्ट, इक्यासीवें स्ट्रीट पर स्थित बेरेस्फोर्ड अपार्टमेंट्स में रहती थी। मेरी माँ दक्षिणी अंचल की – दक्षिणी कैरोलीना के चार्लेस्टन के राजकीय फ्रांसीसी कुल की थीं और काले नेत्रों तथा केशोंवाली सुन्दरी के रूप में प्रसिद्ध थीं। वे एक बुद्धिमती महिला थीं और चर्च ऑफ इंग्लैंड से जुड़े सामाजिक उत्सव-अनुष्ठानों में आनन्दपूर्वक भाग लेती थीं। उनका विश्वास था कि दुनिया के सारे कुलीन लोग उसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध हैं। इस प्रकार स्वामीजी तथा मैं – दोनों ही उनकी परिधि के बाहर थे।

डॉ. गर्नसी की डिनर-पार्टी से घर लौटकर मैंने अपनी माँ को स्वामीजी तथा उनके अद्‌भुत मानस के बारे में बताया, अपने बीच आविर्भूत उस महान् शक्ति के विषय में बताया। इस पर वे बोलीं – "क्या ही भयानक डिनर-पार्टी थी वह, जिसमें मेथॉडिस्ट, बैप्टिस्ट, प्रेसबिटेरियन – सभी थे और साथ में गैरिक वस्त्रधारी वह साँवला मूर्तिपूजक भी था!"

परन्तु धीरे-धीरे माँ ने विवेकानन्द को पसन्द करना तथा उनके विचारों के प्रति सम्मान दिखाना सीख लिया था, यहाँ तक कि बाद में वे एक वेदान्त केन्द्र की सदस्य भी बनी थीं। स्वामीजी को भी मेरी माँ बड़ी रोचक लगी थीं और आज इतने वर्षों बाद भी वह दृश्य मेरे नेत्रों के सामने भासने लगता है, जब वे अपने विषय में माँ की टिप्पणियाँ सुनकर हँसते-हँसते लोटपोट हो जाते थे।

एक सोमवार की रात 'मेट्रोपॉलिटन ओपेरा' थियेटर में नवयौवना मेल्बा, डी रेज्के और बैरमिस्टर आदि सुप्रसिद्ध कलाकारों द्वारा 'फाउस्ट' नाटक का मंचन हो रहा था। उस अवसर पर समाज के मानो सभी प्रतिष्ठित लोग अपने-अपने आभूषणों का प्रदर्शन करने, गप्पें मारने, लोगों से मिलने-जुलने, देर से आकर सबकी दृष्टि आकर्षित करने और नाटक देखना छोड़ बाकी सब कुछ करने के लिये वहाँ उपस्थित थे।

स्वामीजी ने पहले कभी ओपेरा नहीं देखा था और हमारी सीटें आर्केस्ट्रा के पास सबकी दृष्टि में आनेवाले हिस्से में थीं। मैंने सलाह दी थी कि स्वामीजी को भी हमारे साथ चलने का निमंत्रण दिया जाय। माँ ने उनसे कहा – "परन्तु आप तो साँवले हैं, लोग क्या कहेंगे?" इस पर वे हँसने लगे और बोले – "मैं अपनी बहन के पास बैठूँगा। मैं जानता हूँ, वह बुरा नहीं मानेगी।" उस दिन वे जितने सुन्दर दिख रहे थे, वैसे पहले कभी नहीं दिखे थे। हमारे आसपास बैठे लोगों का ध्यान इस प्रकार उनकी ओर बँटा हुआ था कि मेरा विश्वास है कि उस रात वे लोग ओपेरा बिल्कुल भी नहीं सुन सके थे।

मैंने स्वामीजी को 'फाउस्ट' की कथावस्तु समझाने का प्रयास किया। सुनकर माँ कह उठी – "हे भगवान, तेरे जैसी युवा लड़की को ऐसी भयानक कहानी एक पुरुष को नहीं सुनानी चाहिए।"

स्वामीजी ने पूछा – "यदि यह अच्छा नहीं है, तो आप इसे यहाँ आने को ही क्यों कहती हैं?"

माँ बोली – "देखिए, ओपेरा देखने जाना एक सामाजिक प्रथा है। सबके कथानक खराब हैं और उन पर चर्चा करना आवश्यक नहीं।" धन्य हो, हे बेचारी निष्प्राण मानवता और तुम्हारी यह मूर्खता!

बाद में मंचन के दौरान स्वामीजी ने पूछा – "अच्छा बहन, वह व्यक्ति जो गा-गाकर उस सुन्दर महिला से प्रेम जता रहा है, क्या वह सचमुच ही उससे प्रेम करता है?"

– "हाँ, स्वामीजी।"

– "परन्तु उस व्यक्ति ने तो महिला के प्रति अन्याय किया है और उसे दुखी बना दिया है।"

मैंने विनम्रतापूर्वक कहा – "हाँ।"

इस पर स्वामीजी ने कहा – "ओह, अब समझा, वह

व्यक्ति उस सुन्दर महिला से प्रेम नहीं करता, बल्कि उस लाल पूँछधारी व्यक्ति के प्रेम में डूबा है – क्या कहते हैं उसे – शैतान!'' इसी प्रकार स्वामीजी के पवित्र मन ने विचार के द्वारा सब कुछ तौलकर देख-समझ लिया कि ओपेरा और उसके श्रोता – सभी खोखले हैं।

नाटक के बीच के अन्तराल के दौरान एक अल्प-वयस्क लोकप्रिय सामाजिक युवती ने माँ के पास आकर कहा –''मेरी माँ उन नारंगी वस्त्र पहने भव्य व्यक्ति का परिचय पाने के लिए बड़ी उतावली हो रही हैं।''

हमारे बीच एक महान् मित्रता थी और मेरा विचार है कि वह जगत् के लिये अब भी अप्रकाशित रह गया है। यह भौतिक राग-द्वेष के परे एक पूर्णत: आत्मा का सम्बन्ध था। वे सर्वदा यही बताया करते थे कि हमारी आत्माएँ अन्त में उस परलोक में कब, कैसे और कहाँ परम गति को प्राप्त होंगी। उन्होंने कभी किसी को भी मेरे बारे में नहीं बताया और न ही मेरे नाम का उल्लेख किया। यह आत्मा की मित्रता थी और अब भी है।

वे जिस दर्शन पर उपदेश तथा लेखन करते थे, उसका बहुत-कुछ उन्होंने मुझे सिखाया। उन्होंने मुझे ध्यान करना सिखाया और जीवन के आघातों के समय वह एक महान् शक्ति सिद्ध होता था। उन्होंने बताया कि किस प्रकार ध्यान की शक्ति युक्तिपूर्ण विचारों के लिये, आत्मसंयम के लिये, भावसमाधि के लिये, दूसरों को आकृष्ट करने के लिये; सत्कर्म के लिये, दूसरों को तथा उनकी जरूरतों को समझने के लिये; अपने व्यक्तित्व को कुंद होने से बचाने के लिये भी उपयोगी है। भोजन के विषय में संयम बरतना, अपने शरीर को ठीक रखने के लिये उसकी जरूरतों को समझना; ब्रह्मचर्य, सहनशीलता, वैचारिक पवित्रता और जगत् के प्रति प्रेम – केवल किसी विशेष व्यक्ति के लिये नहीं, अपितु प्रत्येक व्यक्ति तथा सभी सृष्ट वस्तुओं के प्रति प्रेम – इन सबमें ध्यान से कैसी अद्भुत निष्ठा प्राप्त होगी!

अब, चालीस वर्षों बाद, उन्होंने मुझे अपने सुदीर्घ मौन से मुक्त कर दिया है और कुछ ऐसी चीजों के लिये आदेश-निर्देश दिया है, जिन्हें कि वे चाहते हैं कि मैं करूँ। ...

दूसरों के दृष्टिकोणों के विषय में, उनमें कितनी समझ और कितनी उदारता थी! वे मेरे साथ अट्ठाइसवीं सड़क पर स्थित छोटे-से सेंट लियो के चर्च में सामूहिक प्रार्थना देखने गये। वहाँ सब कुछ अत्यन्त सुन्दर था और वृद्ध पादरी फादर डूसी एक अच्छे कलाकार थे। वहाँ पर दोपहर के समय वे सामुदायिक प्रार्थना के निर्देश के अनुसार घुटने टेककर श्रद्धा ज्ञापित करने लगे। रंग-बिरंगे काँचोंवाली खिड़की से छनकर नीला, लाल तथा सुनहरा प्रकाश आ रहा था और उनकी श्वेत पगड़ी पर पड़ने के बाद संगमरमर की दीवारों की पृष्ठभूमि उनके सुन्दर व्यक्तित्व की रूपरेखा बना रहा था। संगमरमर के फर्श पर उनका गैरिक वस्त्र एक महान् तथा भव्य ज्वलन्त अग्निपुंज जैसा प्रतीत हो रहा था और उनका वह मनमोहक मुखमण्डल प्रार्थना में डूबा था। ज्योंही भोग की घण्टी बजी और वेदी पर ईसा की उपस्थिति के आभास से श्रद्धापूर्वक सबके सिर झुक गये, उन्होंने मेरे हाथ का स्पर्श किया और फुसफुसाते हुए बोले – ''हम दोनों एक ही परमेश्वर की उपासना करते हैं।''

❖ (समाप्त) ❖

सारदा-वन्दना

पुरुषोत्तम नेमा

शक्ति सुपूज्या, मूर्त तपस्या,
जय सुखकारिणी माँ,
लोक-नन्दिता, साधु-वन्दिता,
भव-भय-हारिणी माँ !
सु-भाव-मग्ना, जाग्रत करुणा,
मंगल-कारिणी माँ,
सम्यक् तुष्टा, जग-हित-निरता,
विभव-प्रसारिणी माँ !!

शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन बन,
हिय पुलकाती माँ,
मन-वाणी से, हृदय-नयन से,
सुख बरसाती माँ !
सन्तति का उत्कर्ष देख-सुन,
अति हरषाती माँ,
ताप मिटाकर शान्त स्वरों की,
लय सरसाती माँ !!

सौख्य-वाहिका, सृजन-गर्विता,
मधुरिम वाणी माँ,
'सत्यं-शिवं-सुन्दरं' की,
साकार निशानी माँ !
त्याग, नेह, आतिथ्य भाव की,
सुखद कहानी माँ,
'मा फलेषु' आस्था की गीता,
परम सुजानी, माँ !!

नहीं सटीक विशेषण कोई,
अनुपम एक विशेष्या 'माँ',
तीर्थ-शीर्ष गंगोत्री-काशी-
मथुरा और अयोध्या माँ !
देव-नाग, गन्धर्व-असुर-नर
सबकी प्रथम प्रणम्या माँ,
जननि अनूपा, हे शतरूपा,
शान्ति-मूल शुभ-धन्या माँ !!

गायत्री-महिमा

स्वामी प्रेमेशानन्द

गायत्री – अपने गायन करनेवाले का जो त्राण करती है – उसी को गायत्री कहते हैं।

ॐ भूर्भुवः स्वः
तत् सवितुर्वरेण्यं
भर्गोदिवस्य धीमही
धियो यो नः प्रचोदयात् ॐ ।।

अन्वय – सवितु: देवस्य तत् वरेण्यम् भर्गो (वयम्) धीमही। य: न: (अस्माकम्) धिय: प्रचोदयात् ॐ।

ॐ – ब्रह्म का प्रतीक अर्थात् नाम है। ब्रह्म वस्तु की सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार – विभिन्न रूपों में अनुभूति होती है। ॐ शब्द से ब्रह्म के सभी भावों की अभिव्यक्ति होती है। विश्व में जो कुछ है, सबकी। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है – सब कुछ अनस्ति हो जाता है। ब्रह्म ही सत् हैं। ... ब्रह्म के हर प्रकार के नाम के पूर्व ॐ का उच्चारण किया जाता है – यही वैदिक प्रथा है।

ॐ भूः भुवः स्वः – ॐ पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग। ब्रह्म की सृष्टि-लीला में वे पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्गलोक हुए हैं। इसीलिये सर्वप्रथम ब्रह्म के इस परिदृश्यमान जगत् रूप को स्मरण किया जा रहा है।

सवितृ देवता अर्थात् सूर्य के वरणीय पूजनीय सर्वश्रेष्ठ ज्योति का हम ध्यान करते हैं। सात वर्ष के ब्राह्मण बालक को आचार्य उसके भीतर नवोदित सूर्य की ज्योति पर ध्यान करना सिखा रहे हैं। सूर्य जब निर्मल आकाश में उदित होते हैं – तब उनका क्या ही चित्ताकर्षक रूप होता है। सम्भवत: जगत् की सभी वस्तुओं में यही उज्ज्वलतम तथा सुन्दरतम वस्तु है। बालक के लिये इस वस्तु पर ध्यान करना – मन को एकाग्र करने का सर्वोत्तम उपाय है। बाल्य काल से ही ऐसी प्रणाली से मन को एकाग्र करने का अभ्या करने पर – उस एकाग्र मन की सहायता से जीवन के सभी कार्य सुसम्पन्न करने की क्षमता अर्जित होती है। इससे बढ़कर उत्तम साधना, अन्य किसी भी देश, किसी भी काल या किसी भी शास्त्र में प्रचारित नहीं हुई।

सवितृ शब्द का अर्थ है – जगत् को प्रसव करनेवाले सूर्य देवता। बालक जब बड़ा होकर समझ सकेगा कि ब्रह्म से ही जगत् की सृष्टि हुई है और चित्-स्वरूप ब्रह्म का चिद् अंश प्रत्येक जीव में चेतना के रूप में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुआ है, तब वह सविता के भर्ग (ज्योति) को वह स्वयं की आत्म-ज्योति के रूप में समझ सकेगा। इसके फलस्वरूप उसे अनायास ही मुक्ति की उपलब्धि हो जायेगी।

मानव-शरीर में बुद्धि ही सभी कर्मों की संचालक है। परन्तु मनुष्य की बुद्धि अत्यन्त सीमाबद्ध है – उसमें भूत और भविष्य का ज्ञान अति अल्प है। अत: इसलिये उसके लिये सर्वज्ञ समष्टि बुद्धि की सहायता लेना अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिये प्रत्येक व्यक्ति को बचपन से ही यह शिक्षा दी जानी चाहिये कि 'मेरी बुद्धि सर्वदा ईश्वर की ओर उन्मुख रहे'।

गायत्री के अन्तिम भाग की प्रार्थना का अर्थ इस प्रकार है – सर्वज्ञ समष्टि-बुद्धि-रूपी वे सगुण ब्रह्म हम सभी की बुद्धियों को परिचालित करें। हम अपनी अल्प बुद्धि की प्रेरणा से चलकर दुख को न प्राप्त हों। यही मनुष्य की सर्वोत्तम प्रार्थना है।

अन्त में पुन: ॐ का उच्चारण करके सोचना चाहिये – हमारे सभी कर्म, सभी साधनाएँ, जीवन का सब कुछ उन्हीं सवितृ-देवता की सेवा में समर्पित हो।

सवितुः = सवितृ शब्द। सृ धातु। अर्थ – प्रसव करना
वरेण्यम् = श्रेष्ठ। वरणीय। Self-effulgent
भर्गो = सूर्य का ईश्वरीय तेज – दिव्य-ज्योति
देवस्य = ज्योतिर्मय देह
धीमही = ध्यान करता हूँ
धियः = धी शब्द का बहुवचन – समस्त बुद्धिवृत्तियाँ
यः = जो
नः = हमारी
प्रचोदयात् = प्रेरित करें। परिचालित करें।

स्वामीजी ने कहा है – "We meditate on the self-effulgent light of the Creater. May He direct our intelligence." – "हम जगत्-स्रष्टा के ज्योतिर्मय तेज का ध्यान करते हैं। वे हमारी बुद्धि को परिचालित करें।"

क्या ही अद्भुत – मनोरम है यह प्रार्थना। मानो कविता हो।

(बँगला ग्रन्थ 'एक सोनार मानुष' पृ. ३६३-६४)

माँ श्री सारदा देवी (१२)

आशुतोष मित्र

यह रचना 'श्रीमाँ' नामक पुस्तक के रूप में १९४४ ई. के नवम्बर में प्रकाशित हुई थी। यहाँ उसके प्रथम तीन अध्याय ही लिये गये हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस अंश का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

बागबाजार (कोलकाता) में गोपालचन्द्र नियोगी लेन में माँ के लिए नया मकान बन रहा था। जमीन केदार दास उर्फ 'लँगड़े केदार' ने दान किया था। नये भवन की निचली मंजिल में उद्बोधन कार्यालय स्थानान्तरित हो रहा है और ऊपर माँ के रहने की व्यवस्था की जा रही है। मकान तीन मंजला है। दूसरी मंजिल में ठाकुर के लिए वेदी का निर्माण हो रहा है। भगिनी निवेदिता ने वेदी के लिए अपने हाथों से रेशम का चँदोवा बनाकर लगा दिया है। मकान देवालय होने के कारण कॉर्पोरेशन के टैक्स से मुक्त कर दिया गया है। यह सब तैयारी माँ को लाकर ठहराने के लिये की जा रही थी, परन्तु वे आना टालती रहीं।

आखिरकार बहुत अनुनय-विनय के बाद १९०९ ई. की एक संध्या के बाद वे आयीं।[४१] शरत् महाराज के बन्दोबस्त के अनुसार ठाकुर-घर के बगलवाले कमरे में[४२] माँ के लिए एक नयी खाट (तख्त) तथा राधू के लिए उसी के बगल में माँ की पुरानी पलंग लगा दी गयी और वही कमरा दोनों के निवास हेतु निर्धारित किया गया। माँ आयीं और सब देखकर बोलीं – "बेटा, ठाकुर को छोड़कर मेरा रहना कैसे हो सकता है? मैं उनके बिना नहीं रह सकती।" तब खाट और पलंग दोनों को उठाकर ठाकुर-घर में ही लगा दिया गया। पहली रात वे वहीं सोयीं। मसहरी नहीं लगवाया। छोटी मामी बगल के कमरे[४३] में सोयीं।

अगले दिन सुबह माँ बोली – "मेरा खाट पर सोना नहीं होगा। राधी मुझे छोड़कर नहीं सो पाती। और मैं भी राधी को छोड़कर नहीं रह सकती। खाट को हटा लो। हम पुराने पलंग पर ही सोयेंगी।" गणेन्द्रनाथ बोले – "शरत् महाराज ने आपके लिए नयी खाट बनवायी है।" तो भी माँ राजी नहीं हुईं। बोलीं – "नहीं बेटा, खाट पर सोने का अभ्यास नहीं है? वह गड़ता है और तुम लोगों की बात मानकर एक दिन सो भी तो लिया! अब तुम लोग सोओ।"

४१. २३ मई, १९०९ ई. को माँ कलकत्ता के मकान में आयीं।

४२. वर्तमान का ठाकुर-भण्डार।

४३. वर्तमान में माँ के कमरे के बगल का बाँयीं ओर का कमरा।

उनकी इच्छानुसार खाट को हटा लिया गया। गणेन्द्रनाथ उस खाट को तीसरी मंजिल के कमरे में ले जाकर उस पर सोने लगे। माँ तथा राधू के लिए पलंग पर ही बिस्तर लगा दिया गया और दीवार में कीलें गाड़कर मसहरी टाँगी गयी।

माँ की ठाकुर-पूजा के लिए किरण-चन्द्र दत्त के बगीचे का माली रोज फूल दे जाता। गोलाप-माँ अब से 'माँ के भवन' पर रहने लगीं। नाती से उन्हें जो थोड़े-से रुपये मिलते, उसे माँ की कलकत्ते की गृहस्थी में देकर वहीं खाने और सोने लगीं। शुरू के दो-तीन दिन वे छोटी मामी के कमरे में सोयीं, बाद में तीसरी मंजिल के कमरे में सोने लगीं। माँ छोटी मामी के कमरे में बैठकर तेल मलतीं और पान लगातीं। दुमंजले के दक्षिणी ओर के कमरे[४४] में पुरुष-भक्त और छोटी मामी के कमरे में महिलाएँ भोजन करतीं। माँ ठाकुर-घर में खातीं। योगीन-माँ दोनों समय आकर भण्डार से सामान निकाल देतीं और सब्जी काट देतीं।

एक दिन ललित फोनोग्राफ लेकर आये और माँ को सुनाने के बाद राधू से कुछ बातें कहलवा कर उसमें रेकार्ड कर लिया और जाते समय उसे सुना भी गये।

एक रात भोजन के थोड़ी देर बाद बेलूड़ मठ से सूचना आयी कि 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' में 'बूढ़े गोपाल' के नाम से उल्लिखित ठाकुर के शिष्य गोपाल-दादा (स्वामी अद्वैतानन्द), ने देहत्याग कर दिया है।[४५] समाचार पाते ही शरत् महाराज गणेन्द्रनाथ को साथ लेकर बेलूड़ मठ चले गये।

एक बार श्रीयुत किरणचन्द्र दत्त कीर्तन के उपलक्ष्य में पुरुष तथा महिला भक्तों के साथ माँ को अपने घर ले गये। कीर्तनिया यतीन्द्र मित्र पेशेवर गायक नहीं थे, पर कीर्तन बड़ा सुन्दर गाते थे। माथुर-गायन शुरू हुआ – फिर विरह गाया जाने लगा। कीर्तन सुनकर सभी लोग अभिभूत हो गये। माँ तथा भक्त-महिलाएँ परदे के पीछे बैठी थीं। कीर्तन सुनते-

४४. माँ के कमरे के सामने का कमरा। इसी में स्वामी रामकृष्णानन्द का देहान्त हुआ था।

४५. स्वामी अद्वैतानन्द का देहान्त २८ दिसम्बर १९०९ के दिन शाम को साढ़े चार बजे हुआ था।

सुनते माँ की अर्ध-बाह्य-चेतना की अवस्था हो गयी। तभी कलकत्ते से जानेवाली ट्रेन का समय हुआ देख, यतीन्द्र बाबू कीर्तन बन्द करने का आयोजन करने लगे। परदे के भीतर से गोलाप-माँ बोलीं – ''माँ कह रही हैं कि मिलन भी गाकर पूरा किया जाय।'' यतीन्द्र बाबू ने एक मिलन गाया। मिलन -गान इतना मधुर हुआ कि श्रोताओं का हृदय छू गया। यतीन्द्र माँ की ओर प्रणाम करके चले गये। माँ पूर्ण रूप से बाह्यज्ञान-रहित होकर बैठी रहीं। गोलाप-माँ समझ गयीं और उन्होंने बिना किसी को कुछ कहे, माँ को सहारा देकर उठाया और नाममात्र को जलपान के लिये बैठाने के बाद, उन्हें ले जाकर गाड़ी में बैठा दिया।

दिख रहा था कि गाड़ी में चढ़ते समय माँ का एक पाँव इधर, तो दूसरा पाँव उधर पड़ रहा है। गोलाप-माँ ने उन्हें दृढ़तापूर्वक पकड़कर चढ़ाया। वापस पहुँचने पर उन्हें दोनों ओर से दो लोगों ने पकड़कर गाड़ी से उतारा और ऊपर ले गये। गोलाप-माँ उन्हें पुकारती रहीं, पर उनका कोई उत्तर या शब्द नहीं सुनाई दिया। उन्हें ठाकुर-घर में ले जाकर ठाकुर के सामने खड़ा कर दिया गया। माँ स्थिर भाव से खड़ी रहीं – पलक स्थिर थे। भाग्यवश गोलाप-माँ को एक बार इसके पूर्व भी, वृन्दावन में ऐसा ही अनुभव हुआ था। वे बोलीं – ''तब वृन्दावन में माँ का भाव देखा था और फिर आज देख रही हूँ।'' हम लोगों को इसका बिल्कुल भी अनुभव न था। आज पहली बार दर्शनकर हमने स्वयं को धन्य समझा। गोलाप-माँ की उस पुकार से बाह्यज्ञान न लौटने पर हमें एक दिन उपदेश के समय कही गयी माँ की उक्ति याद आ गयी और उसी समय उसकी परीक्षा करने का निश्चय किया। उन्होंने कहा था – ''माँ काम में चाहे जितनी भी व्यस्त क्यों न हो, बच्चे की रुलाई को सुनकर तत्काल दौड़ी आती है।''

उनके कानों के पास – ''माँ-माँ'' कहकर पुकारने पर उनके शरीर में कम्पन दिखाई दिया। बाद में स्पष्ट स्वर में बोलीं – ''क्या है बेटा?'' मैं बोला – ''माँ, भूख लगी है, ठाकुर को भोग दीजिए।'' फिर उनमें जरा-सी भी अस्वाभाविकता न रही। वे पूर्णत: बाह्य स्वाभाविक अवस्था में लौट आयीं। भोग आया। उन्होंने हाथ जोड़कर ठाकुर को भोग दिया। शरत् महाराज ने किरणबाबू के घर से लौटकर सब सुना और बोले – ''ठीक किया – हम लोगों को भी ज्ञात हो गया।''

ठाकुर के शिष्य लाटू महाराज (स्वामी अद्भुतानन्द) को देखता – वे माँ के पास बहुत नहीं आते, पर हर वर्ष दुर्गा-पूजा के समय माँ के कलकत्ते में रहने पर एक बार अवश्य आते। उन्हें देखकर माँ बड़ी आनन्दित होतीं। वे उन्हें अपने कमरे में बिठाकर प्रसाद खिलातीं, अनेकों प्रकार की बातें करतीं और एक वस्त्र भी देतीं। लाटू महाराज उस वस्त्र को पगड़ी के समान बाँध लेते। प्रसाद खाते-खाते लाटू महाराज के दोनों नेत्रों में अश्रु भर आये। कभी-कभी वे प्रसाद तथा वस्त्र लेकर दौड़ते हुए निकल जाते। माँ हो-हो कर हँसतीं।

लाटू महाराज के बारे में स्वयं माँ के मुख से सुना हैं – ''लाटू मेरे नौबतखाने में रोटियाँ बेल देता, मैदा सान देता, बहुत-से बर्तन माँजता, पानी भरता। अहा, लाटू के समान निष्ठावान भक्त कहाँ मिलेगा !''

एक बार एक अमेरिकी युवक तथा युवती (दोनों अविवहित थे) आकर बोले कि वे माँ का दर्शन करने के इच्छुक हैं। वे हमारे लिए अपरिचित थे। अस्तु। मैं उन्हें ऊपर ले गया। माँ को प्रणाम करके नीचे आने के बाद कुछ देर तक वे लोग उद्बोधन कार्यालय में बैठे और उनके बीच आपस में कुछ वाद-विवाद करते रहे। अन्त में वे लोग नाराज होकर चले गये। उस दिन दूसरे किसी काम से ऊपर जाने पर माँ ने पूछा – ''साहब और मेम क्या पति-पत्नी हैं?'' मैंने उत्तर दिया – ''नहीं, वे दोनों अविवाहित हैं।'' माँ ने कहा – ''लेकिन मुझे लगा कि वे वही (पति-पत्नी) हैं।'' तब मैं बोला – ''हाँ माँ, मैंने उनका झगड़ा सुना था।''

इसी मकान में लेखक ने वी. दत्त फोटोग्राफर के द्वारा माँ के तीन फोटोग्राफ निकलवाये थे। ...

यहाँ बहुत-से नर-नारी माँ से दीक्षा लेने को आया करते थे। एक दिन श्रीअरविन्द माँ को प्रणाम करने आये।

जिस डॉक्टर ने नलिनी के पति प्रमथ को अपनी चिकित्सा द्वारा स्वस्थ किया था, उन्होंने माँ के आदेश पर दुबारा शादी की और वह दूसरी स्त्री माँ की शिष्या हुई। वे माँ से पूछकर उनके जीवन का एक अपूर्व तथ्य जानने में सफल हुई थीं, जो उनके पति से मित्रता तथा भ्रातृत्व के नाते हमें प्राप्त हुआ है। माँ के चरित्र का वह बहुमूल्य उपादान हम यथासाध्य अपने मित्र की ही भाषा में (अर्थात् मित्र ने माँ की बातें जिन शब्दों में कही थी, वैसे ही) देने का प्रयास किया है – ''देव-शरीर हम साधारण लोगों की तरह का नहीं होता। उनमें ऐसा एक विशेषत्व रहता है, जो अन्यत्र कहीं मिलना कठिन है; यहाँ तक कि असम्भव है, ऐसा भी कहा जा सकता है। सुना है कि ठाकुर ने स्वामीजी से कहा था – 'अरे, मेरी तरह तेरे द्वारा भी कभी स्त्री-सम्भोग नहीं होगा।' ''

माँ को मैंने कई बार अपने शिष्यों को कहते सुना है – ''ठाकुर का दर्शन नहीं हुआ? मैं कहती हूँ – निश्चय ही होगा। यह क्या जिस-तिस ने पकड़ा है?''

माँ के हम कुछ शिष्यों ने एक बार एकत्र होकर अपने-अपने अनुभव पर चर्चा करते हुए एक बात पर एकमत हुए कि माँ का कोई शिष्य-सन्तान, जो कुछ भी खाना पसन्द करता है, वे उसे बिना-बताये वही वस्तु दिया करती थीं।

माँ के मुख से हमने सुना है कि बच्चों को जैसे हाथखड़ी

से लिखना सिखाया जाता है, वैसे ही ठाकुर ने उन्हें सिखाया है कि कैसे पात्र को क्या मंत्र देना चाहिए और किस मंत्र का कौन-सा बीज है, आदि आदि, ताकि भविष्य में हजारों लोग उनके माध्यम से अपने धर्मजीवन में उन्नति कर सकें।

माँ पुन: गाँव गयीं। वहाँ माँ के घर के दक्षिण की ओर थोड़ी जमीन थी, जो अब तक खलिहान के रूप में काम में आती थी। इस बार जयरामबाटी पहुँचकर देखा गया कि वह खलिहान अब नहीं है। उस पर काली मामा का नया मकान बन गया था। पुराने मकान का चण्डी-मण्डप तथा इसके बगल का कमरा, जिसमें लेखक आदि भक्तगण ठहरते थे, अब खलिहान के रूप में काम में आ रहा है। अत: लेखक को काली मामा के नये मकान में रहना पड़ा। काली मामा मड़ागेड़े से अपने परिवार को लाकर इसी मकान में रहते थे।

माँ के दो-चार गृही और त्यागी अन्तरंग भक्त थे। माँ उनसे ऐसे काम करा लेतीं, जिन्हें वे किसी अन्य को नहीं कहना चाहती थीं। इसी तरह के एक अन्तरंग की बात हम यहाँ बतायेंगे। ये भक्त ठाकुर के छोटे-बड़े अनेक प्रकार के फोटो बनवाकर बेचते और उनकी बिक्री से प्राप्त धन को माँ के निर्देशानुसार उनके काम में लगाते।

माँ के हाथों में बहुत पहले से घुमावदार डिजाइन के दो कंगन थे (जो उनके फोटो में दिखाई देते हैं)। हम लोग जबसे उन्हें देख रहे हैं, तब से वैसा ही देखा है। ये कंगन घिस जाने पर उन्हें तुड़वाकर नये डिजाइन के कड़े बनवा दिये गये। पर कड़े की तरह दिखनेवाले ये नये कंगन ऊपर-ऊपर पसन्द करने पर भी माँ को अन्तर से पसन्द नहीं आये। जब माँ ने उपरोक्त भक्त के समक्ष अपना वास्तविक मनोभाव व्यक्त किया तो वे बोले – "जब आपको पुरानावाला डिजाइन ही पसन्द है, तो तीन दिन के अन्दर वही मिल जायेगा।" यथासमय तीसरे दिन वे वैसे ही कंगन ले आये और माँ ने छोटी बच्ची की भाँति खुश होकर तत्काल उसे पहन लिया, पर सबके सामने उसे पहन नहीं सकीं। तो भी हमें विशेष रूप से ज्ञात हुआ कि बाद में वे उसी को पहनती थीं। वे भक्त हमेशा के लिए विदा ले चुके हैं, परन्तु माँ ने उनकी स्मृति-चिह्न के रूप में उसका निरन्तर उपयोग किया।

इस बार माँ के कलकत्ता आने पर उनके शरीर में चेचक दिखाई दिया। बागबाजार स्ट्रीट के एक शीतला-मन्दिर के पुजारी ने उनकी चिकित्सा की। वे ब्राह्मण नित्य आते और उनके जाते समय माँ गले में आँचल डालकर प्रणाम करके उनकी पदधूलि लेतीं। माँ द्वारा इस चरित्रहीन ब्राह्मण की पदधूलि लेते देख मैं बड़ा दुखी होता। एक दिन रहा नहीं गया, तो मैं उन्हें मना कर बैठा। वे बोलीं – "देखो बेटा! चाहे जैसा भी हो, है तो ब्राह्मण ही न – वेश को सम्मान देना ही उचित है। ठाकुर कुछ तोड़ने तो नहीं आये थे।"

माँ की इस बीमारी के समय एक रोचक घटना हुई। रोग ठीक जाने पर भी पथ्य शुरू नहीं हुआ था। तभी एक दिन उन्हें सहजन के डण्ठल की सब्जी खाने की इच्छा हुई और मुझसे उन्होंने अपनी इच्छा जतायी। "अभी ला देता हूँ" – कहकर मैं लाने चला। माँ ने पूछा – "कैसे लाओगे? यदि कोई जान जाये तो?" – "उसका भय नहीं है। गोपीनाथ (रसोईया) के पास से छिपाकर ले आऊँगा – वह किसी को बतायेगा नहीं" – कहकर मैं चला गया। एक पत्तल में थोड़ी सब्जी लेकर मैं तत्काल लौट आया। माँ सानन्द खाने लगीं और चूसे हुए डण्ठल पत्तल में रखने लगीं। सब खा चुकी थीं, बस आखिरी डण्ठल चूस रही थीं, तभी सहसा गोलाप-माँ आ गयीं। माँ उन्हें देखकर उनकी ओर पीठ फेरकर हाथ के डण्ठल को पूरा खा गयीं और दूसरे हाथ में पत्तल को छिपा लिया। पर गोलाप-माँ ने उन्हें मुँह चलाते देख लिया था। उन्होंने पूछा –"माँ, क्या खा रही हो?" माँ ने कहा – "दो डण्ठल चबा रही हूँ, गोलाप।" गोलाप-माँ बोल पड़ी – "डण्ठल? वह तो पकायी हुई चीज है, कौन लाया? समझ गयी, आशू! शूद्र के हाथ की चीज खा रही हो?" माँ ने कहा – "तुम डाँटों मत, गोलाप! कौन शूद्र है? वह तो भक्त है – शिष्य है। भक्त की भी क्या जात होती है?"

माँ के उत्तर से गोलाप-माँ हतप्रभ रह गयीं, पर अगले ही क्षण उनकी दृष्टि चबाये हुए डण्ठल खोजने लगी। उसे कहीं न पाकर वे बोलीं – "कहाँ गये? समझ गयी, सब खा गयी हो?" माँ को हँसते देखकर वे पुन: बोलीं – 'ओ माँ! नरेन आदि ठाकुर के रक्त-मिला मवाद पी गये थे। मैं भी चबाये हुए डण्ठल खाऊँगी।" इतना कहकर उन्होंने माँ के बचे चबाये हुए डण्ठल लिये और मुँह में भरकर चली गयीं। उन सरल ब्राह्मणी के मन में एक बार भी यह नहीं आया कि उन्होंने भी शूद्र का छुआ हुआ डण्ठल खाया है!

बड़ी ठण्डक पड़ रही थी। माँ के दुर्बल शरीर को विशेष कष्ट होता देख मेरे मन में आया कि कुर्ती न सही, उन्हें एक गंजी ही पहनाऊँ। शरत् महाराज से कहा, उन्होंने पैसे दिये और गणेन्द्रनाथ 'ह्वाइट वे लेडल' की दुकान से दस रुपये की एक रेशमी गंजी खरीद लाये। देते ही माँ ने उसे सानन्द पहन लिया और तीन दिनों तक वे उसे सुबह-शाम पहनती रहीं। चौथे दिन उन्हें पहने न देखा, कारण पूछने पर वे बोलीं – "स्त्रियाँ क्या यह सब पहनती हैं बेटा? तो भी तुम्हारा मन रखने को तीन दिन पहन लिया।" इसे लिखते हुए एक बात मन में आ रही है। माँ अपनी साड़ी में बाँयी ओर एक छोटी गाँठ लगाकर उसे इस प्रकार पहनतीं कि उन्हें कुर्ती या ब्लाउज की जरूरत ही नहीं पड़ती थी। माँ की दोनों भौहों के बीचो-बीच गोदने का एक चिह्न था। इसे उनके बड़े फोटो में सूक्ष्मदर्शी यंत्र से देखा जा सकता है। ❖ **(क्रमशः)** ❖

अपराधिनी या देवी

जरासन्ध

(लेखक बंगाल के अनेक कारागारों में अधीक्षक पद पर नियुक्त रहे। उक्त पद पर कार्य करते समय उन्हें बन्दियों के बारे में तरह-तरह के अनुभव हुए, सेवा-निवृत्त होने के बाद, उन्हीं के आधार पर उन्होंने बँगला में चार खण्डों में 'लौहकपाट' नामक एक लोकप्रिय ग्रन्थ लिखा। महाकवि वाल्मीकि पहले एक डाकू थे और नारदजी के सम्पर्क में आकर प्रात:स्मरणीय ऋषि बन गये। ऐसी घटनाएँ वर्तमान युग में भी होती हैं। उपरोक्त ग्रन्थ के तृतीय खण्ड में वर्णित एक घटना का हिन्दी अनुवाद हम इस अंक में प्रकाशित कर रहे हैं। इसे पढ़ कर ऐसा लगता है कि व्यक्ति कैसे कभी-कभी सामाजिक परिस्थितियों से मजबूर होकर तथा सहानुभूति के अभाव में, अपराध में प्रवृत्त होता है, परन्तु सौभाग्यवश सत्संग पाकर उसके जीवन का रूपान्तरण भी हो जाता है और वह सन्मार्ग पर – भगवत्पथ पर चल पड़ता है। – सं.)

सोमवार। जेल का साप्ताहिक राउंड लेने के सुदीर्घ कार्यक्रम के अनुसार मैंने दल-बल के साथ अपनी परिक्रमा आरम्भ की। एक वार्ड से दूसरे वार्ड में घूम रहा हूँ और कैदियों की सभी प्रकार की शिकायतें सुन रहा हूँ। – किसी प्रबल जोतदार ने बलपूर्वक किसी की पैतृक सम्पत्ति पर कब्जा कर लिया है, वह उसे वापस मिलना चाहिये; किसी को छह महीनों से घर का समाचार नहीं मिला, वह जानना चाहता है कि उसकी बीमार पत्नी तथा असहाय बच्चे कैसे हैं; कोई पेट-दर्द की दवा लेने के लिये अस्पताल जाना चाहता था, पर मेट ले नहीं गया, कहता है कि पहले दिखा कि तुझे कहाँ दर्द है, उसके बाद देखा जायेगा। ...

पुरुष-बैरक समाप्त हो जाने के बाद हमारी टोली फीमेल वार्ड अर्थात् जनाना-फाटक के सामने जाकर खड़ी हो गयी। दरवाजे से एक पतली-सी डोरी लटक रही थी। उसे खींचते ही भीतर एक मधुर घण्टे की ध्वनि सुनाई देने लगी। फीमेल वार्डर ने दरवाजा खोलकर सलाम किया। सिपाही लोग बाहर ही रहे। मैं उच्च अधिकारियों को साथ लिये भीतर प्रविष्ट हुआ। इसके साथ ही मेट्रन का तीक्ष्ण कण्ठ गरज उठा – एस्काट अटेंशन। मेट्रन गिरिबाला शायद किसी समय हाथ में स्लेट लिये किसी गाँव की पाठशाला में पढ़ने जाया करती थी। Squard Attention ! इतना बड़ा एक बिलायती आदेश उसके मुख से निकलने की अपेक्षा भी नहीं थी। और इससे जेल को कोई हानि भी न थी। काम ठीक ही चल जाता है। अर्थ न समझने पर भी यह नवीन पेटेंट शब्द कानों में जाते ही महिला कैदियों का दल आतंकित हो उठता है। आज भी वे सभी एक साथ उठकर खड़ी हो गयीं। उनके शिकायतों का दौर शुरू हुआ। एक प्रौढ़ा कैदी ने पोस्टकार्ड आगे बढ़ा दिया। मैं बोला – "तुम्हें क्या चाहिये?"

– "पढ़कर देखिये बाबा ! मेरे लड़के को बड़ा कष्ट हो रहा है। दूसरे के घर में रख आयी हूँ। उसे देखनेवाला कोई नहीं है। आप माँ-बाप हैं। दया करके हुकुम देने पर उसे मैं लाकर अपने साथ रख सकती हूँ। मेरा जो भोजन है, हम माँ-बेटा उसी को बाँटकर खा लेंगे।"

मैं बोला – "तुम्हें तो पहले ही बता दिया है कि सात-आठ साल के बच्चे को जेल में रखने का कानून नहीं है; जिनकी आयु छह वर्ष तक है, केवल वे ही अपनी माँ के साथ रह सकते हैं।"

उस महिला ने आगे कुछ नहीं कहा। सिर नीचा किये खड़ी रही। आँखों के कोने से देखा – उसके दोनों नेत्रों के कोनों से अश्रुधारा बही जा रही है।

चुपचाप आगे बढ़ गया। पंक्ति के अन्त में खड़ी थी – एक तरुणी, काफी-कुछ बेपरवाह-सी। उसके रूप था, पर चेहरे से लावण्य विदा ले चुका था। उसके शुष्क-कठोर चेहरे पर मानो दो रूखी-थकी हुई आँखें जड़ी हुई थीं। उसे देखकर सहसा लगा कि संसार में दया-माया-स्नेह-प्रेम रूपी जो एक कोमल पहलू है, उसका उसे बोध नहीं है या फिर वह उसे भूल चुकी है। मानो एक निष्प्राण पत्थर की मूर्ति, जिसके साथ स्निग्धता का कोई भी वास्ता न हो ! कुतूहलरहित शून्य दृष्टि से उसने मेरी ओर देखा।

"कल ही सेशन्स-कोर्ट से आयी है" – मेरे सहकारी डिप्टी जेलर ने बताया।

"क्या नाम है तुम्हारा?" – मैंने पूछा।

सामान्य प्रश्न था, जिसे मैं सभी नवागतों से पूछा करता था। परन्तु वह नितान्त उपेक्षा-भाव के साथ अपने हाथ का टिकट आगे बढ़ाकर बोली – "पढ़कर देख लीजिये न? केवल नाम ही क्यों, इसमें और भी बहुत-कुछ मिलेगा।"

मेरे साथ के अधिकारियों में एक अव्यक्त उद्विग्नता दीख पड़ी। एक साधारण कैदी के मुख से इस प्रकार का उद्धत वाक्य सुनने के वे अभ्यस्त न थे। अनुशासन बनाये रखने हेतु मेरे लिये भी कुछ करना उचित था। परन्तु इस दृष्टि से मुझसे भूल हुई। मैंने कोई 'ऐक्सन' लिये बिना ही उसके हाथ से वह टिकट उठा लिया। आँखें फिराकर देखा – नाम था ज्ञानदा मल्लिक। मकान में आग लगाने के अपराध में सेशन्स जज ने उसे चार साल के कैद की सजा दी थी। अनायास ही एक बार और उसके चेहरे पर दृष्टि पड़ी। सहसा मन में आया कि उसने अपने हाथों से जो आग लगाया है, सम्भव है कि उससे भी प्रबल कोई आग उसके हृदय में अदृश्य रूप से धधक रही हो; और उसका पता शायद किसी को न हो, जज साहब भी उसे नहीं जानना चाहते होंगे।

टिकट लौटाते ही उसके पतले होठों के कोने पर एक

तिरछी हँसी की रेखा फूट पड़ी। और वह कटाक्ष के स्वर में बोल उठी – "आपने पूछा नहीं कि आग क्यों लगाया था? किसे जलाकर मारा था?"

ऐसे अद्‌भुत प्रश्न के लिये मैं तैयार न था। तो भी अपने विस्मय-भाव को दबाये रखकर बोला – "वह सब बताना चाहती हो?"

– "हर्ज ही क्या है? इतनी बार बता चुकी हूँ कि याद हो गया है। पहले मुहल्ले के लोगों को बताया, फिर पुलिस-दरोगा को, वकील बाबू और छोटे हाकिम को और अन्त में जज साहब को। सबको बताया है – एक बार नहीं, अनेकों बार। चाहें, तो आपको भी सुना सकती हूँ।"

मैंने कहा – "मेरी सुनने की इच्छा नहीं है। तुम कौन थी और क्या किया – यह सब जानने की मुझे कोई जरूरत नहीं। तुम भी उन सब बातों को भूल जाने का प्रयास करो।"

ज्ञानदा के होठों के कोने पर उभरी वह कटाक्ष की रेखा सहसा लुप्त हो गयी। उसकी आँखों की पुतलियों में विस्मय या उसी तरह का कोई अन्य भाव प्रकट हुआ। मुझसे ऐसा उत्तर पाने की सम्भवत: उसे आशा न थी।

* * *

कुछ दिनों बाद ही जज साहब के फैसले की नकल आ गयी। अन्य सभी लोगों के समान ही ज्ञानदा से भी पूछा गया था – अपील करेगी या नहीं। उसने कोई उत्तर न देते हुए, केवल उँगली नचाकर उपेक्षा का ही भाव व्यक्त किया था। "परन्तु यदि कुछ दिनों बाद उसका मन बदल जाय, तो ..." – यह सोचकर मेरे सहकारी जेलर ने उसके सारे कागज-पत्र मँगवा लिये थे। उनके भीतर जो कथा मिली वह जैसी सरस थी, वैसी ही संक्षिप्त भी थी।

पन्द्रह साल की आयु में ज्ञानदा का विवाह हुआ था। उसके अनेक वर्षों पूर्व ही उसके पिता का देहान्त हो चुका था। विधवा माँ के साथ कोई बदनामी जुड़ी थी। पड़ोसियों की कृपा से मिर्च-मसाले सहित वह जानकारी उसके ससुराल में जा पहुँची। उसके बाद वहाँ से उसके लिये कोई बुलावा नहीं आया। कुछ दिनों बाद ही उसके पति-देवता ने एक अन्य कन्या की माँग में सिंदूर भरकर सहज भाव से अपनी गृहस्थी आरम्भ कर दी थी और यह खबर यथासमय आ भी पहुँची थी। ज्ञानदा ने उसके बाद भी प्रतीक्षा की थी। परन्तु उसके आस-पड़ोस में रहनेवाले भौंरे चंचल हो उठे थे। दो-चार बीघे जमीन ज्ञानदा की पैतृक सम्पत्ति और जीविका का आधार था, प्राय: वह सब ससुराल वालों की फरमाइशें पूरी करने में समाप्त हो चुका था। जो कुछ बच रहा था, वह दो लोगों का पेट पालने के लिये पर्याप्त न था।

घर के उपयोग की सारी चीजें एक पंसारी की दुकान से उधार में आती थीं। ऋण की मात्रा क्रमश: इतनी बढ़ गयी कि उसे चुका पाना उनके लिये सपने में असम्भव था। इस कारण कन्या को बहुत चिन्ता होती थी, परन्तु माँ उसे कोई विशेष चिन्तित नहीं दिखाई देती थी। इसका कारण ज्ञानदा तत्काल तो नहीं, परन्तु उस दिन समझी, जिस दिन पंसारी के पुत्र की ओर से ऋण-शोधन के रूप में उसके शरीर की माँग हुई। प्रतिक्रिया के रूप में पहले तो उसने फन उठा लिया, पर जब उसने देखा कि इस माँग के पीछे माँ का भी समर्थन है, तो उसे पीछे हटते भी देरी नहीं लगी – माँ का केवल समर्थन ही नहीं, प्रोत्साहन भी था। ज्ञानदा का परिवार उच्च वर्ण का और पंसारी उससे निम्न जाति का था। उसके लिये भद्र लोगों की इस बस्ती में आना-जाना खतरे से खाली न था। अत: निशा-मिलन के लिये ज्ञानदा को ही जाना पड़ता। बस्ती से थोड़ी दूरी पर स्थित अपने उद्यान के एक निर्जन कमरे में वह पंसारी मिलन की प्रतीक्षा में बैठा रहता।

पंसारी होने के बावजूद उसका हृदय अत्यन्त उदार था। अकेले-अकेले भोग से ऊबकर उसने अपने दो-चार मित्रों को भी अपने आनन्द में शामिल करने की ठानी। पर ज्ञानदा राजी नहीं हुई और काफी प्रयास के बाद भी उसे इसके लिये मनाया नहीं जा सका। इधर वह पंसारी भी नाछोड़ बन्दा था। उसने ज्ञानदा पर दबाव डालना तथा सताना आरम्भ किया। क्रमश: उनकी गृहस्थी की धारा सूख चली। माँ बड़ी उद्विग्न हो उठी, पर ज्ञानदा टस-से-मस नहीं हुई। जाड़े की एक रात समस्या चरम सीमा तक जा पहुँची। उसके दो दिन पहले से ही घर में फाँकेबाजी चल रही थी। आखिरकार ज्ञानदा राजी हुई। उसने पंसारी-पुत्र के पास संवाद भेजा – "रात के बारह बजे तुम्हारे उद्यान-भवन में आ रही हूँ। कृपया आज की रात अकेले ही रहना। कल से तुम्हारे मित्रगण भी आ सकेंगे।"

पंसारी की खुशी का ठिकाना न रहा। ज्ञानदा गयी। रात के तीन बजे मौका देखकर वह धीरे-धीरे उठ खड़ी हुई। एक बोतल मिट्टी का तेल और कुछ चीथड़े वह आँचल के नीचे छिपाकर ले गयी थी। उसने सावधानीपूर्वक पंसारी की जेब से दियासलाई की डिबिया भी निकाल लिया। इसके बाद धीरे से बाहर आकर उसने कमरे के द्वार पर साँकल चढ़ाया और जलते हुए चीथड़ों को खिड़की से भीतर फेंक दिया। जब सब धू-धूकर जलने लगा, तब उसे लगा कि यही अग्नि उसके हृदय में इतने दिनों से दबी पड़ी थी। आज बाहर आते ही उसके हृदय की ज्वाला बुझ गयी। इसके बाद मरणासन्न व्यक्ति की अन्तिम चींख गूँज उठी – "कौन है? बचाओ!"

सहसा विद्युत्-प्रवाह के समान एक अज्ञात भय ज्ञानदा के पूरे शरीर में कौंध उठा। वह दोनों हाथों से अपने कान ढँके दौड़ पड़ी। घर पहुँचते-पहुँचते वह अपना होशो-हवाश खोकर घर के फर्श पर लुढ़क पड़ी।

* * *

वार्ड से दिन-पर-दिन ज्ञानदा के नाम तरह-तरह की शिकायतें आने लगीं – किसी को मानती नहीं है, काम-काज जब खुशी, करती है और प्राय: करती ही नहीं। कुछ कहने पर खरी-खोटी सुना देती है। मेट्रन का कभी भी अपमान कर बैठती है। साथी बन्दिनियों के समझाने पर वह चुपचाप वहाँ से चल देती है, या फिर झल्लाकर कह देती है – "अपना रास्ता देखो।" जब जेलर साहब ने उसे निर्णय के लिये मेरे सामने पेश किया, तो उसने किसी भी प्रश्न का उत्तर नहीं दिया, दबाव डालने पर वह नाराजगी के स्वर में बोल उठी – "मैं और क्या बोलूँगी, उन लोगों से आप सब कुछ सुन ही तो चुके हैं!"

एक दिन मैंने उसे समझाने का प्रयास किया – "बाकी लोग जैसे रहते हैं, वैसे ही तुम भी रहने की चेष्टा करो। जो लोग नियमानुसार काम करते हैं, ठीक से रहते हैं, वे मियाद पूरी होने के काफी पहले ही रिहा हो जाते हैं।"

मेरी बातों के बीच में ही काटते हुए उसने उत्तर दिया – "ओह, और कितना भाषण दीजियेगा! वह सब छोड़कर जो सजा आदि देना हो, दे दीजिये। मैं और अधिक खड़ी नहीं रह पा रही हूँ।"

इसके बाद ही किसी अन्य गम्भीर अपराध में उसे काफी दिनों के लिये कोठरी में बन्द करना पड़ा, जिसे हम लोगों के शास्त्र में कहते हैं – Solitary confinement।

अगले हफ्ते सभी महिलाओं की पंक्ति देखना हो जाने के बाद जब मैं ज्ञानदा के छोटे-से निर्जन कमरे के सामने जाकर रुका, तो जेल के नियमानुसार उसे तत्काल उठकर खड़ी हो जाना था। उसने जरा भी परवाह नहीं किया। जैसे दीवार का सहारा लेकर बैठी थी, वैसे ही बैठी रही। उसने अपने दोनों शुष्क नेत्रों को एक बार उठाने के बाद तत्काल गिरा लिया और उसकी भौहों पर नाराजगी के चिह्न दीख पड़े। मिनट भर प्रतीक्षा करने के बाद मैं बोला – "किताबें पढ़ोगी?"

सीधे मुख की ओर न देखते हुए, उपहास के स्वर में वह बोल उठी – "मजाक कर रहे हैं क्या?"

– "यह क्या हो रहा है ज्ञानदा?" मेट्रन चींख उठी।

वह जरा भी विचलित हुए बिना बोली – "कुछ भी नहीं हुआ है। मैं जानना चाहती थी। शायद कानून है कि रीपोर्ट होने पर पढ़ने के लिये किताबें नहीं दी जातीं। वैसा ही देख भी रही हूँ। तो फिर यह बात पूछने का क्या मतलब है?"

बात गलत भी नहीं थी। ऐसे लोग ही जेल-ग्रन्थालय अथवा अपने सगे-सम्बन्धियों से पुस्तकें प्राप्त कर सकते थे, जिनका स्वभाव तथा चाल-चलन सन्तोषजनक हो। जो कारागार में अपराध करने के बाद उसकी सजा भोग कर रहा हो, उसे पुस्तकें पढ़ने की सुविधा नहीं दी जा सकती थी।

ज्ञानदा को उत्तर देते हुए मैंने कहा – "मैं जानना चाहता था कि तुम पढ़ना चाहती हो या नहीं। पुस्तक देने या न देने की बात मैं देख लूँगा।"

– "ठीक है, दे सकते हैं।" – अत्यन्त उदासीन स्वर में ज्ञानदा बोली।

– "कौन-सी पुस्तक पढ़ोगी?"

– "और कौन-सी पुस्तक! किस्सा-कहानी हो तो भेज दीजियेगा। आप लोगों की वह धर्मकथा और तरह-तरह के उपदेश मुझे अच्छे नहीं लगते।"

उन दिनों बंगाल में मुस्लिम लीग की सरकार थी। जेल-ग्रन्थालय के लिये पुस्तक की खरीदारी में भी आधे-आधे का अनुपात मानकर चलना पड़ता था। कथा-कहानी के नाम पर आलमारी के कोने में जो कुछ पड़ा था, उसमें अधिकांशत: थीं – 'सुलतान साहब की करामात', या फिर 'लैला बीबी का किस्सा'। यह सब तो वह पढ़ेगी नहीं। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते श्रीम द्वारा लिखित 'कथामृत'* का एक खण्ड मिल गया। न जाने क्यों मैंने उसी को भेज दिया।

सप्ताह के अन्त में जब मैं पुन: उन लोगों के वार्ड में गया, तो मेरे कुछ पूछने के पहले ही ज्ञानदा कटु स्वर में बोल उठी – "खूब किताब भेजी है आपने भी! यही आपकी

पुरखों की थाती

चन्दनं शीतलं लोके चन्दनादपि चन्द्रमा।
चन्द्र-चन्दनयोरपि शीतला साधु-संगतिः।।

– इस संसार में चन्दन को शीतल मानते हैं, उससे भी अधिक शीतल है चन्द्रमा, साधुजनों की संगति इन दोनों से भी कहीं अधिक शीतल है।

साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः।
कालेन फलते तीर्थं सद्यः साधुसमागमः।।

– सन्त साक्षात् तीर्थ हैं, अत: उनके दर्शन मात्र से ही पुण्य होता है। तीर्थ तो समय आने पर फलदायी होता है, परन्तु सन्त-सान्निध्य तत्काल फल देता है।

संगः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत् त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सन्तः संगस्य भेषजम्।।

– सन्त आसक्ति-रोग की औषधि हैं। यदि आसक्ति को पूर्णत: न त्याग सके, तो आसक्ति सन्तों से रखे।

* श्री महेन्द्रनाथ गुप्त द्वारा बँगला में लिखित 'श्रीश्री रामकृष्ण कथामृत'। यह ग्रन्थ हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के द्वारा हिन्दी में अनुवादित होकर 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' नाम से दो खण्डों में रामकृष्ण मठ, नागपुर से प्रकाशित हुआ है। – सं.)

किस्से-कहानी की पुस्तक है? मैंने तो उसी दिन कह दिया था – वह सब धर्म की बातें मुझसे सहन नहीं होतीं। इस मुई किताब को मैंने खोला तक नहीं। उधर पड़ी है; वापस ले जा सकते हैं। देना ही चाहते हैं, तो कोई उपन्यास आदि दीजियेगा। जैसा कि 'छोटी जमादारनी' पढ़ा करती है।''

छोटी जमादारनी अर्थात् मेरी सहकारी फीमेल वार्डर। आयु तीस से कम थी। शायद उसने बालिका-विद्यालय में सातवीं या आठवीं कक्षा तक पढ़ाई की थी। ड्यूटी पर आते समय वह कोई लोमहर्षक जासूसी उपन्यास या किसी आधुनिक लेखक की मनोहारी प्रेमकथा छिपाकर ले आती। पर जेल-ग्रन्थालय ऐसी पुस्तकों का महत्त्व नहीं समझता। इसलिये और कोई उपाय न देख मैंने कथामृत के पक्ष में ही वकालत शुरू कर दी। बोला – ''नाम देखकर ही क्यों डर रही हो? यह भी कहानियों की ही पुस्तक है। इसमें भी बहुत-सी मजेदार कथाएँ हैं। एक बार पढ़कर क्यों नहीं देखती?''

ज्ञानदा ने बात आगे नहीं बढ़ाई। उसकी मुखमुद्रा देखकर ऐसा लगा कि मेरी सारी वकालत निरर्थक सिद्ध हुई है।

अगले सप्ताह किसी कारणवश राउण्ड पर जाना नहीं हो सका। लगभग १५ दिनों बाद जब उसके साथ फिर भेंट हुई, तो उसके मुख की ओर देखने के बाद सहसा नजर हटाना भूल गया। न जाने किस जादू की छड़ी के स्पर्श से ज्ञानदा रातो-रात बदल चुकी थी। उसके चेहरे पर उग्रता के स्थान पर एक कोमल आभा झलक रही थी। निर्लज्ज प्रगल्भता के स्थान पर उसके दोनों नेत्रों में लज्जायुक्त मधुर संकोच व्यक्त हो रहा था। वह मेरे विस्मय-विमुग्ध दृष्टि के समक्ष सम्मान-पूर्वक खड़ी हो गयी; मृदु हास्य के साथ स्निग्ध कण्ठ से बोली – ''जरा दरवाजा खोलने को कहिये न!''

मोटे जंजीरों से लदा भारी-भरकम दरवाजा खोल दिया गया। मेट्रन तथा फीमेल वार्डर तीव्र वेग से आगे बढ़कर मेरे पास खड़ी हो गयीं। महिला होकर भी वह खूनी थी न! न जाने क्या कर बैठे! ज्ञानदा सिर नीचा किये धीरे-धीरे बाहर निकल आयी। गले में आँचल लपेटकर मेरे पाँवों के निकट प्रणाम किया। अस्फुट मृदु कण्ठ से मानो स्वगत में बोली – ''आज मन में बड़ा अच्छा लग रहा है।'' ललाट के ऊपर से रुक्ष केशों को हटाकर मेरे मुख की ओर आँखें उठाकर उसने पूछा – ''अच्छा, वह सब क्या सत्य है? ठाकुर श्रीरामकृष्ण क्या ऐसे ही थे? इतने आत्मविभोर, इतने सरल, इतने उदार! क्या वे सचमुच ही ऐसी सुन्दर बातें कह गये हैं?''

ये सब शायद प्रश्न नहीं थे। प्रश्न रहे भी हों, तो इनका उत्तर उसने अपने मन से ही पूछा था। मैं तो केवल उपलक्ष्य मात्र था। इसीलिये मौन ही रहा। मेरे सहकारी-गण भी स्तब्ध थे। नीरवता में ही कुछ और क्षण बीत जाने के बाद मैं बोला – ''तो फिर, पुस्तक तुम्हें पसन्द आयी है?''

इसका कोई उत्तर नहीं मिला, केवल उसके दोनों नेत्र मुँद गये और उसके चेहरे पर फैल गया – तृप्ति का एक मधुर हास्य। थोड़ी देर तक उसी प्रकार तन्मय भंगिमा के साथ खड़ी रहने के बाद धीरे-धीरे वह अपनी कोठरी में लौट गयी।

कुछ दिनों बाद ज्ञानदा मल्लिक के नाम पर फिर एक शिकायत आयी। मेट्रन गिरिबाला को बुलवाकर मैंने जानना चाहा कि बात क्या है? उसने कहा – ''पन्द्रह दिन बीत जाने के कारण क्लर्क ने पुस्तक वापस माँगी थी। आदेश सुनना तो दूर, वह उल्टे ही दस बातें सुनाकर बोली – इच्छा हो, तो जाकर नालिश भी कर दो। मुझे जो कहना है, मैं बड़े साहब से ही कहूँगी।''

बेचारी गिरिबाला के लिये मन में दुख हुआ। शायद उसके मेट्रन-जन्म में ऐसी कोई चीज उसे देखने को नहीं मिली थी। तो फिर क्या किया जाय! मैं बोला – ''नहीं देना चाहती है, तो रहने दो न! उससे उलझने से क्या फायदा? बल्कि क्लर्क बाबू को बुलाकर मैं ही कह दूँगा।''

कहना न होगा कि यह उल्टा फैसला मेट्रन को पसन्द नहीं आया। उसकी गम्भीर मुखमुद्रा और तेजी से लौटने की भंगिमा देखकर ही यह बात समझ में आ गयी।

ज्ञानदा की ओर से भी शिकायत थी। बाद में जब उसकी कोठरी के दरवाजे के सामने भेंट हुई; तो देखते ही बोल उठी – ''आप जरा उन क्लर्क बाबू को डाँट दीजियेगा। जब-तब पुछवाते रहते हैं कि इतनी-सी किताब, खतम करने में कितने दिन लगेंगे? सुनिये उनकी बात! मैं भला उन्हें कैसे समझाऊँ कि यह पुस्तक कभी समाप्त होनेवाली नहीं है?''

* * *

उस जेल में मेरा कार्यकाल समाप्त हो चला था। अब और कहीं जाकर डेरा डालना होगा और इसी की प्रतीक्षा में मैं दिन गिन रहा था। सहसा ही वह अटल आदेश आ पहुँचा। जब अन्तिम बार जनाना फाटक से प्रविष्ट हुआ, उसके काफी पूर्व ही ज्ञानदा के 'सेल' की मियाद पूरी हो चुकी थी। परन्तु वह उस निराली छोटी-सी कोठरी का मोह छोड़ नहीं पा रही थी। मेट्रन से अनुनय-विनय करके उसने अपने लिये निर्जन-वास ही चुन लिया था। मुझे देखकर वह बाहर निकल आयी और उसी दिन के समान प्रणाम किया, पर इस बार उसने न केवल धरती पर अपना सिर टिकाया, अपितु कम्पित कोमल करों से पाँवों की धूल भी ली। उठकर खड़े होते ही मैंने देखा – उसका चेहरा गम्भीर था, मुख तथा आँखें सूजी हुई थीं; उसके कोनों पर सूखी हुई आँसुओं की रेखा थी, सम्भवत: उन्हें पोंछना वह भूल गयी थी। सहसा वह रुद्ध तथा करुण कण्ठ से बोल उठी – ''अब तो वे लोग मेरा

'कथामृत' छीनकर ले जायेंगे।''

इसके साथ ही उसके नेत्रों से आँसू झरने लगे। यथासम्भव सहज स्वर में ही मैं बोला – ''ले जायें, तो भी क्या? उसकी जगह पर तुम्हें दो नयी पुस्तकें मिल जायेंगी। वे तुम्हारी अपनी होंगी। कभी कोई उन्हें वापस नहीं माँगेगा।''

– ''सचमुच !'' ज्ञानदा के गीले नेत्र प्रज्वलित हो उठे।

इसके बाद वह बोली – ''बहुत दया की है आपने ! बहुत स्नेह मिला है आपसे ! आखिर में आपसे एक चीज और माँगूगी। ... देंगे न?''

– ''बोलो, क्या चाहिये।''

– ''इन लोगों से थोड़ा किनारे हट जाने को कहिये।''

हाथ के संकेत से मैंने अपने अनुचरों को दूर कर दिया। ज्ञानदा खिसककर मेरे और भी पास चली आयी और फुसफुसा कर बोली – ''ठाकुर श्रीरामकृष्ण का एक चित्र।''

उस काल के जेल के कानून के अनुसार कैदी के लिये किसी भी प्रकार का चित्र या फोटो रखना मना था। कानून की रक्षा का उत्तरदायित्व लेकर, अपने ही हाथों भला मैं उसे कैसे तोड़ूँ? पर इधर दो भीगे नेत्र मेरी ओर देखते हुए अधीर भाव से प्रतीक्षा कर रहे थे, उन्हें तो यह बात समझायी नहीं जा सकती थी। और उसकी जरूरत भी नहीं पड़ी। अनजाने में ही न जाने कब मेरे मुख से निकल पड़ा – ''दूँगा।''

इसके बाद ज्ञानदा के किसी कल्पित सम्बन्धी की ओर से 'कथामृत' के दो खण्ड उसके नाम से जमा किये गये। उन्हीं में छिपा था – श्रीरामकृष्ण का एक चित्र।

* * *

ज्ञानदा की कथा यहीं समाप्त हुई। इसके बाद का अंश मेरी ही लज्जा की कथा है। उस दिन के बाद साल-दर-साल मेरा एक जेल से दूसरे जेल में स्थानान्तरण होता रहा। परन्तु किसी मठ, मन्दिर या किसी गृहस्थ के पूजागृह में, जब भी कहीं श्रीरामकृष्ण के चित्र पर मेरी निगाह पड़ती, तभी उसकी बगल में एक अश्रुपूरित नारी का चेहरा भी झलक उठता। मेरा हृदय लज्जा और अपराध-बोध से परिपूर्ण हो उठता। यह मुझे क्या हुआ ! परमहंस के पास एक पापिनी ! फिर क्रमश: मुझे बोध होने लगा कि श्रीरामकृष्ण तो दीन-दुखी, पापी-तापियों के उद्धार के लिये ही तो आये थे और उन्होंने स्वयं ही उसे अपने चरणों में स्थान दिया है; इस अभागी, असहाय बच्ची को अपना लिया है। उनके 'कथामृत' ने उसे एक नया जीवन प्रदान किया है। मैं इसमें जो निमित्त हुआ हूँ, इस पर मुझे लज्जा नहीं, बल्कि गर्व होना चाहिये।

('प्रबुद्ध-भारत' के मार्च-अप्रैल २००६ अंक में प्रकाशित)

माँ से प्रार्थना

जितेन्द्र कुमार तिवारी

सारदा माँ, ले शरण में।
आ बसो अन्त:करण में।।

मन बहुत कमजोर है माँ,
सच कहूँ तो चोर है माँ,
कर्म बिन फल चाहता है,
वासना घनघोर है माँ,
त्याग है मुझको न भाता,
हर्ष पाता हूँ हरण में।। सारदा माँ ..

एक तेरा ही सहारा,
दूसरा कोई न चारा,
डूबने से तुम बचाओ,
पा सकूँ कोई किनारा,
शक्ति देना, भक्ति देना,
धैर्य रक्खूँ मैं छरण में।। सारदा माँ ....

जगत में भटका फिरा मैं,
मोहवश पग-पग गिरा मैं,
अन्त में पछता रहा हूँ,
वासनाओं से घिरा मैं,
दे सहारा स्नेहरूपिणी,
आज भव-सागर तरण में।। सारदा माँ ....

है अधूरी साधना भी,
है असीमित कामना भी,
घेरती मुझको यहाँ है,
स्वार्थ-पूरित भावना भी,
छोड़ सब कुछ किन्तु अब माँ,
आ गया हूँ तव शरण में।। सारदा माँ ....

तनय-माँ का पूत नाता,
है सभी को खूब भाता,
सुत कुसुत होते रहे हैं,
पर नहीं होती कुमाता,
कर उपेक्षा अब न मेरी,
दृष्टि रख जीवन-मरण में।।

सारदा माँ, ले शरण में,
आ बसो अन्त:करण में।। सारदा माँ ....

'विवेक-ज्योति' में वर्ष २००६ ई. के दौरान प्रकाशित लेखकों तथा उनकी रचनाओं की सूची

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम

विज्ञानान्द मार्ग, मुट्ठीगंज, इलाहबाद - २११ ००३

दूरभाष : ०५३२-२४१३३६९ फैक्स : ०५३२-२४१५२३५

ई-मेल : rkmsald @sancharnet.in

गुरु पूर्णिमा, २००६

अर्ध कुम्भ मेला शिविर २००७
एक अपील

प्रिय मित्र,

प्रयागराज का कुम्भ मेला विश्व के सबसे बड़े धार्मिक उत्सव के रूप में प्रसिद्ध है। इस समय यहाँ अर्ध कुम्भ मेला जनवरी-फरवरी २००७ में सम्पन्न होने जा रहा है। इस महान अवसर पर देश के सभी भागों एवं विदेश से एक सौ पच्चीस लाख से भी अधिक तीर्थयात्रियों और साधुओं के भाग लेने की आशा है। कल्पवासियों के अतिरिक्त साधुओं और तीर्थयात्रियों की चिकित्सीय देखभाल के लिये विशेष व्यवस्था करनी होगी। पहले के वर्षों की ही तरह, यह संस्था, एकत्रित तीर्थयात्रियों और साधुओं को नि:शुल्क चिकित्सीय सुविधा उपलब्ध कराने के उद्देश्य से मेला-भूमि पर नि:शुल्क एलोपैथिक और होम्योपैथिक क्लीनिक तथा एक प्राथमिक चिकित्सा-केन्द्र का शिविर खोलने का विचार कर रही है। इस कार्य में हमारी सहायता के लिये योग्य डाक्टरों, कम्पाउण्डरों, चिकित्सा में सहकारी कर्मचारियों और स्वयंसेवकों की आवश्यकता होगी। तीन सौ तीर्थयात्रियों, दो सौ साधुओं तथा स्वयंसेवकों के लिये भोजन तथा आवास का प्रबन्ध भी करना होगा। शिविर में नियमित धार्मिक कार्यक्रमों के लिये एक मन्दिर तथा सत्संग पण्डाल की भी व्यवस्था होगी। शिविर का अनुमानित खर्च चालीस लाख रुपये है। इसलिये सेवाश्रम उदारमना जनता से इस उत्तम लोकोपकारी कार्य में सहायता के लिये, जैसा कि उन्होंने पहले भी ऐच्छिक रूप से किया है, आन्तरिकता से अपील करता है। योगदान के रूप में प्राप्त आपका धन सधन्यवाद स्वीकार किया जाएगा।

चेक और ड्राफ्ट "A/c Payee only" से रेखित और "रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, इलाहाबाद" के नाम पर काटा जाना चाहिये और यदि रजिस्टर्ड डाक से भेजा जाय, तो अधिक श्रेयस्कर होगा।

धन्यवाद सहित,

प्रभु सेवा में आपका

स्वामी त्यागात्मानन्द

सचिव

---

१. रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम को दिया गया दान इन्कम टैक्स ऐक्ट १९६१ की धारा ८०-जी के अधीन आयकर से मुक्त है।

२. महत्वपूर्ण स्नान के दिन हैं - ३ जनवरी (पौष पूर्णिमा), १४ जनवरी (मकर संक्रान्ति), १९ जनवरी (मौनी अमावस्या), २३ जनवरी (वसंत पंचमी) और २ फरवरी (माघ पूर्णिमा)।

३. जो लोग कुम्भ मेला के अवसर पर हमारे परिसर में भोजन एवं आवास की सुविधा चाहते हैं, उन्हें अग्रिम भुगतान के साथ एक निर्दिष्ट फार्म पर आवेदन द्वारा अपना स्थान २० अक्टूबर २००६ तक आरक्षित करा लेना चाहिए। इस विषय में विस्तृत विवरण के लिये उपरोक्त पते पर शीघ्र लिखने का कष्ट करें।